क्रमबद्ध पुरुषार्थ

पण्डित फूलचन्द शास्त्री

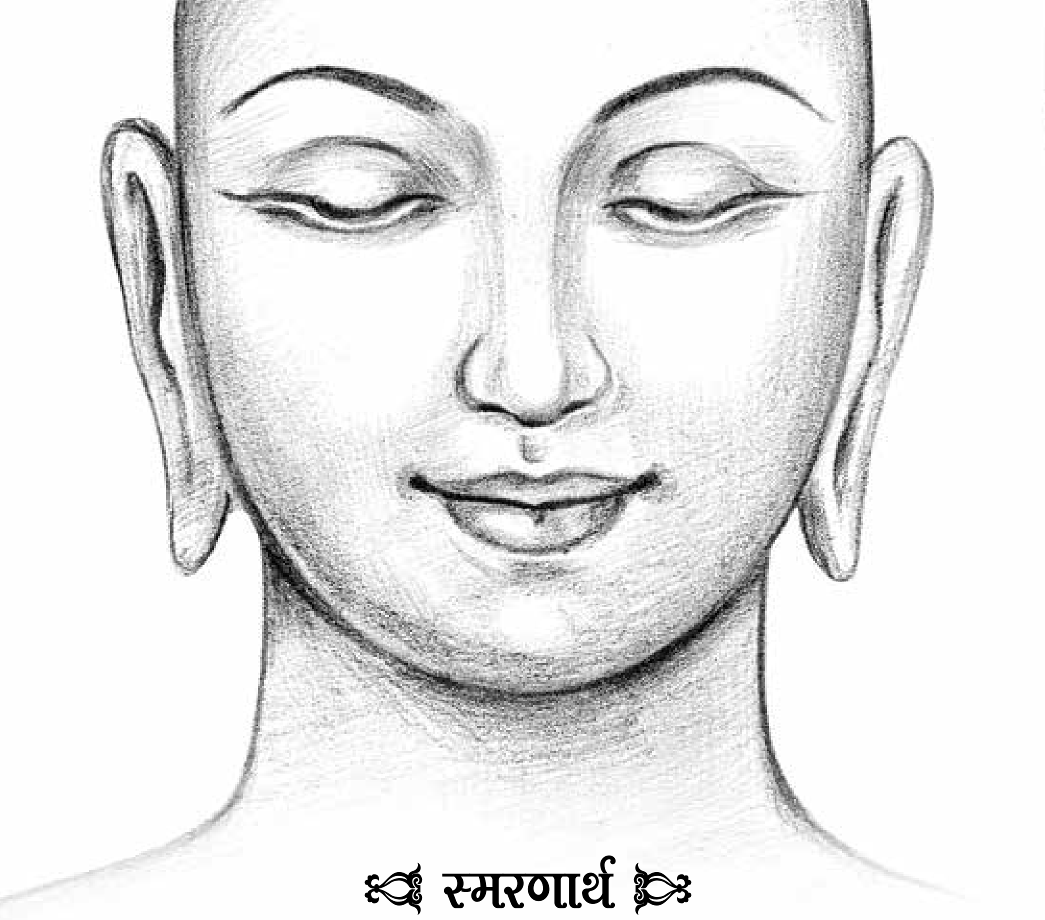

स्मरणार्थ

श्री सुमनलालभाई कालीदासभाई मेहता

आर्थिक सहयोग

श्रीमती शोभनाबेन अश्विनभाई मेहता
एवं
श्री अश्विनभाई सुमनलाल मेहता
मुंबई.

क्रमबद्ध पुरुषार्थ

लेखक

पण्डित फूलचन्द शास्त्री

प्रकाशक

आध्यात्मिक साधना केन्द्र

उमराला, जि. भावनगर, गुजरात. फोन : +91-2843-235203
Website : www.fulchandshastri.com
E-mail : ask@fulchandshastri.com

क्रमबद्ध पुरुषार्थ के बल पर
निर्विकल्प आत्मानुभूति को
उपलब्ध समस्त
सम्यग्द्रष्टी ज्ञानी धर्मात्माओं को

सविनय समर्पित

प्रथम आवृत्ति : 12/02/2014 प्रत : 1000

प्राप्ति स्थान : आध्यात्मिक साधना केन्द्र
उमराला, जि. भावनगर (गुजरात).
फोन : +91-2843-235203
Website : www.fulchandshastri.com
E-mail : ask@fulchandshastri.com

टाईप सेटिंग एवं मुद्रक : मल्टी ग्राफिक्स
18, खोताची वाडी, वर्धमान बिल्डींग, 3रा माला, प्रार्थना समाज,
वी. पी. रोड, मुम्बई-400 004. फोन : 23884222 / 23873222.
Website : multygraphics.com ● shrutgyan.com

मूल्य : दस रुपये

निर्विकल्प आत्मानुभूति

प्रकाशकीय

आदरणीय विद्वान श्री पण्डित फूलचन्दभाई शास्त्री द्वारा लिखित ''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' कृति प्रकाशित करते हुए आध्यात्मिक साधना केन्द्र परिवार अत्यंत हर्ष का अनुभव करता है। इससे पूर्व भी लेखक की अनेक रचनाओं का प्रकाशन आध्यात्मिक साधना केन्द्र, उमराला द्वारा विगत अनेक वर्षों से हो रहा है। विश्व की अनेक भाषाओं में प्रकाशित पण्डित श्री फूलचन्दभाई शास्त्री की अनेक कृतियों के माध्यम से देश-विदेशों में वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञान का प्रचार होता रहता है।

''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' का अध्ययन करने वालें सभी साधक जीवों के लिये मंगल भावना भाता हूँ कि वे इस कृति का अध्ययन करके क्रमबद्ध पर्याय एवं पुरुषार्थ का स्वरुप समझें।

इस कृति के प्रकाशन कार्य में श्रीमती शोभनाबेन अश्विनभाई मेहता का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। साथ ही श्री अश्विनभाई सुमनलाल मेहता ने ''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' का विशेष अध्ययन करके इस कृति की प्रस्तावना भी लिखी है। अतः आध्यात्मिक साधना केन्द्र, उमराला की ओर से मैं उनका भाव सहित आभार व्यक्त करता हूँ।

मल्टी ग्राफीक्स ने ज्ञान से ज्ञायक तक कृति का मुद्रण करके आपके करकमलों तक पहुँचाने में हृदयपूर्वक सहयोग दिया है, अतः आध्यात्मिक साधना केन्द्र परिवार मल्टी ग्राफीक्स का आभार व्यक्त करता है। साथ ही जिन भी महानुभावों का इस कृति के प्रकाशन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रुप से सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ और भावना भाता हूँ कि वीतराग वाणी का प्रचार-प्रसार सदैव होता रहें।

- धर्मेन्द्रभाई किशोरभाई जैन
आध्यात्मिक साधना केन्द्र,
उमराला

प्रस्तावना

श्री पण्डित फूलचन्दभाई शास्त्री जैन एवं जैनेत्तर समाज में सुप्रसिद्ध आत्मार्थी विद्वान है। अल्पवय में ही अनेक वर्षों से उन्होंने मुम्बई सहित देश-विदेशों में अनेकानेक प्रवचन एवं पुस्तकों के माध्यम से जैन तत्त्वज्ञान को जन-जन पहूँचाया है। साथ ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की जन्मभूमि उमराला में उनके द्वारा आध्यात्मिक साधना केन्द्र में चल रहा जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार का कार्य बहुत ही प्रशंसनीय और अनुमोदनीय है।

वर्तमान कलिकाल में दुनिया में ज्ञानी तो कोई विरले ही है। इतना ही नहीं, बल्कि संयोग एवं संयोगीभावों से भिन्न मैं भगवान आत्मा हूँ, इस सत्य का ज्ञान भी कुछ ही सौभाग्यशाली जीवों को प्राप्त हुआ है।

''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' नामक इस पुस्तक में पण्डितजी ने पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरुप स्पष्ट किया है। भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति होने पर ही क्रमबद्ध पर्याय की सच्ची श्रद्धा होती है।

आत्मा किसी अपेक्षा से अपनी पर्याय का कर्ता है फिर भी अपनी पर्याय भी क्रमबद्ध में निश्चित ही है। मुझे सम्यग्दर्शन कब प्रकट होगा? कब प्रकट होगा? ऐसे विकल्पो में उलझने को दर्शन परिषह कहा है।

पुरुषार्थ के सम्बन्ध में मुझे अनेकबार प्रश्न होते थे और लेखक के साथ चर्चा भी होती थी। जब लेखक ने ''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' पुस्तक लिखकर मुझे बताई, तो मुझे बहुत खुशी हुई और अंतर में ऐसा भाव आया कि प्रत्येक साधक को इस पुस्तक का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

याद रहें, क्रमबद्ध पर्याय का स्वरुप क्रमबद्ध पर्याय में लीन होने के लिए नहीं, बल्कि क्रमबद्ध पर्याय से भी द्रष्टि हटकर ज्ञायक की अनुभूति होती रहें, यही ''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' पढ़ने और समझने का फल है।

- अश्विनभाई सुमनलाल मेहता
मुम्बई.

क्रमबद्ध पुरुषार्थ

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्र और स्वाधीन होने के साथ-साथ क्रमबद्ध या क्रमनियमित ही होता है। होनी को अनहोनी और अनहोनी को होनी करने में हम तो क्या? इन्द्र या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है। क्रम अर्थात् एक के बाद एक, बद्ध अर्थात् बंधा हुआ और पर्याय अर्थात् परिणमन। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन क्रमानुसार होता है और सुनिश्चित ही होता है, इसी सिद्धांत का नाम क्रमबद्धपर्याय है।

यद्यपि क्रमबद्धपर्याय में क्रमबद्ध पुरुषार्थ भी गर्भित ही है, तदपि परपदार्थ में कर्तृत्वबुद्धि के कारण मिथ्याद्रष्टी की द्रष्टि, पर एवं पर्याय से भिन्न ज्ञायक की ओर जाती ही नहीं। कोई जीव परद्रव्य सम्बन्धी विकल्प में, कोई जीव आत्मा की पर्याय सम्बन्धी विकल्प में, कोई जीव ज्ञायक सम्बन्धी विकल्प में ही सुख मानकर विराट अस्तित्व स्वरुप भगवान आत्मा के निर्विकल्प अनुभव से दूर ही रहते हैं। याद रहे कि ज्ञायक की निर्विकल्प अनुभूति से पूर्व क्रमबद्धपर्याय के विषय पर प्रवचन करने-सुनने या पुस्तकें लिखने-पढने मात्र से तो कषाय की मंदता एवं क्षयोपशमज्ञान में वृद्धिरुप विकल्पों की आकुलतायुक्त शांति की लहर ही उठती है। भाई! निर्विकल्प आत्मानुभूति के पश्चात् ही क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा एवं समझ होती है, ज्ञायक में स्थिरतारुप पुरुषार्थ के फल में परपदार्थ एवं पर्याय में कर्तृत्वबुद्धि दूर होने पर सहज ही अकर्ताभाव प्रकट होता है, निराकुल शांति की अपूर्व धारा बहती है।

क्रमबद्धपर्याय के परिप्रेक्ष्य में क्रमबद्ध पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरुप समझना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है। पुरुष अर्थात् शक्ति एवं अर्थ अर्थात् द्रव्य। जीवादि समस्त द्रव्य अनन्त शक्तिशाली है। **द्रव्य का अपनी शक्ति अनुरुप परिणमन होना ही पुरुषार्थ है।** प्रत्येक द्रव्य

अपनी-अपनी शक्तिरुप ही परिणमित होता है, द्रवित होता है, एक द्रव्य अपनी शक्ति को छोडकर किसी अन्य द्रव्य की शक्तिरुप परिणमित नहीं होता है। इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य निरंतर नित्य पुरुषार्थी है।

आत्मा की जाननेरुप ज्ञानशक्ति जब आत्मा को जाननेरुप परिणमित होती है, आत्मा की माननेरुप श्रद्धाशक्ति जब आत्मा में एकत्व स्थापित करती है, आत्मा की लीन होनेरुप चारित्रशक्ति जब आत्मा में स्थिर होती है, तब आत्मानुभूतिरुप अपूर्व पुरुषार्थ होता है। चूंकि प्रत्येक द्रव्य की शक्ति का परिणमन क्रमबद्ध है, अतः पुरुषार्थ भी क्रमबद्धपर्याय में गर्भित ही है, आत्मानुभूतिरुप पुरुषार्थ की पर्याय भी क्रमबद्ध ही है।

अज्ञानी जीवों को परपदार्थों में परिवर्तन करना ही पुरुषार्थ नजर आता है या फिर वह अपनी पर्याय में फेर-फार करने के भाव को पुरुषार्थ मानता है। परन्तु द्रव्यद्रष्टि हुए बिना पुरुषार्थ प्रारम्भ हो ही नहीं सकता। द्रव्यद्रष्टि में उपयुक्त द्रष्टि शब्द पर्याय का द्योतक है, द्रव्य का आश्रय लेने वाली पर्याय भी अनादि-अनन्त पर्याय के क्रम में सुनिश्चित ही है, अतः द्रष्टिरुप अनित्य पर्याय में भी एकत्व न होना और द्रव्य में ही पर्याय का एकत्व होना, आत्मिक पुरुषार्थ है।

जिस प्रकार सम्मेदशिखरजी आदि सिद्धक्षेत्र की यात्रा करते समय अपने साथ बोझ लेकर पहाड पर चढने में कठिनाई होती है, जैसे-जैसे उपर चढते हैं, हाथ में रखे लकडा-लकडी भी बोझरुप लगते हैं, यहाँ तक कि अपना शरीर भी बोझरुप लगता है। उसी प्रकार अपने लडका-लडकी आदि परिवारजन एवं शरीर के कर्तृत्वभाव के बोझ को लेकर कोई भी जीव सिद्धपद की यात्रा नहीं कर सकता है। क्रमबद्धपर्याय में फेर-फार करने का मिथ्यात्वरुप भाव भी क्रमबद्धपर्याय में शामिल है। विश्व की व्यवस्था का स्वरुप ऐसा ही अदभूत है। उपदेशात्मक कथन को सैद्धांतिक कथन मानने के कारण ही अज्ञानी जीव आजतक ज्ञानियों के उपदेश की भाषा में छूपे हुए भावों को नहीं समझ सका है। **क्षणिक परद्रव्य एवं पर्याय से भिन्न भगवान आत्मा के तत्त्वविचार की गहराई में जाने पर जब जीव की पर्याय सहजरुप से अंतर्मुख होती है, तब चैतन्य चमत्कार मात्र भगवान आत्मा प्रकट ज्ञानज्योति स्वरुप अनुभव में आता है।**

व्यवहार से रत्न एवं राख आदि समस्त पुद्गल में भेद नहीं जानना पुरुषार्थ है और निश्चय से रत्न एवं राख आदि ज्ञेयों के भेद के कारण ज्ञान स्वभावी निज भगवान आत्मा में भेद न जानकर स्वयं को ज्ञायक ही जानना पुरुषार्थ है। ज्ञानी कहते हैं कि धन और धूल एक ही है, वहाँ ज्ञानी धन को धूल या धूल को धन नहीं जानते, बल्कि धन को धन के रुप में और धूल को धूल के रुप में जानते हैं। **ज्ञानी मानते हैं कि वे दोनों जड ही हैं। जड पुद्गल का भगवान आत्मा में प्रवेश भी नहीं हो सकता। ज्ञेयों के भेद तो अवश्य होते हैं किन्तु ज्ञेयों के भेद के कारण ज्ञायक में कोई भी भेद नहीं होता है। भेदरुप ज्ञेय एवं अभेद ज्ञायक ये दोनों ही वस्तु स्वरुप है। वस्तु के यथार्थ स्वरुप का स्वीकार होना ही वास्तविक पुरुषार्थ है, चूंकि विश्व की व्यवस्था में वास्तविक पुरुषार्थ भी क्रमनियमित या क्रमबद्ध ही है।**

जिस प्रकार परद्रव्य का परिणमन स्वतंत्र एवं क्रमबद्ध है, आत्मद्रव्य में उत्पन्न होने वाले विकारीभाव भी स्वतंत्र एवं क्रमबद्ध है, उसी प्रकार संयोग एवं संयोगीभावों से भिन्न ज्ञायक है, ऐसा भेद जानने वाली भेदज्ञान एवं आत्मानुभूतिरुप पुरुषार्थ की पर्याय क्रमबद्ध ही है, समस्त क्रमबद्धपर्याय से भिन्न ज्ञायक के भाव को, ज्ञायकभाव को **क्रमबद्ध पुरुषार्थ** नामक इस कृति में स्पष्ट किया है।

२६ जनवरी, २००१ के दिन गुजरात में आये भूकंप को कौन भूल सकता है? उस भूकंप के दौरान मैं अहमदाबाद में ही था, भूकंप के समय अनेक मकान ध्वस्त होकर जमीनदोस्त हो गये थे और साथ ही अनेक लोगों की शरीर की मिट्टी भी जमीन की मिट्टी में दबकर खो गई थी। जब सिमेन्ट कोंक्रेट के गिरे हुए मकान में से लाशें बाहर निकाल रहे थे, तब हमने देखा कि अत्तर की कांच की शीशी फूटी नहीं थी और कांच के गिलास अपनी जगह पर जैसे थे, वैसे ही पडे हुए थे। लाशों के ढेर के पास पडी हुई कांच की बोतलों को सुरक्षित देखकर हर किसी के

हृदय में भूकंप और आंखों में अश्रुजल की सुनामी बह रही थी। वह घटना अज्ञान की निद्रा में सोये हुए अज्ञानीजनों को जगा रही थी और समझा रही थी कि **प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्र और स्वाधीन ही होता है। होनी को अनहोनी और अनहोनी को होनी करने में हम तो क्या? इन्द्र या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।**

२६ जनवरी, २००१ के दिन सुबह करीब ९ बजे भूकंप के कारण एक इमारत गिरी जिसमें अनेक लोग दबकर मर गये। पूरी इमारत गिर जाने से उस इमारत में स्थित सभी लोगों को मृत घोषित कर दिया था। दो दिन के बाद २८ जनवरी को सुबह ९ बजे एक आदमी ने आंख खोली, जो कि सिर्फ बेहोश ही हुआ था, उसका जीवन अभी बाकी था। थोडी देर के लिए तो वह घबरा गया, उसने इधर-उधर नजर की। अपने पास में ही रखे हुए मोबाईल से फोन किया और स्वयं को बचाने के लिए मदद मांगी। थोडी ही देर में इमारत के मलबे को हटाने के लिए सहायताकर्मी हाजिर हुए। उस आदमी चित्त में खुशी का कोई ठिकाना नहीं था। उसे बचाने के लिए क्रेइन मंगाया गया, क्रेइन से इमारत की छत को उठाया गया और उसे कहा गया कि, आ जाओ बाहर। वह आदमी जैसे ही बाहर निकलने के लिए आगे बढा कि छत से क्रेइन की पकड छूट गई और वह छत उस आदमी के सिर पर गिरी। वह आदमी इमारत से बाहर आने की जगह अपने मानव जीवन से ही बाहर हो गया। अब तो बस, उसकी आशा की किरण भी अस्त हो चुकी थी।

इस द्रश्य को देखकर उपस्थित लोगों की सांसे कुछ समय के लिए रुक गई और रक्तवाहिनी में रक्त तेजी से दौडने लगा। वह घटना अज्ञानी की आंखों पर बंधी अज्ञान और कर्तृत्वबुद्धि की काली पट्टी को खोल रही थी और दिखाना चाहती थी कि **प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार क्रमबद्ध या क्रमनियमित ही होता है। होनी को अनहोनी और अनहोनी को होनी करने में हम तो क्या? इन्द्र या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।**

जब कोई व्यक्ति भोजन करते वक्त थाली में से चावल के २० दाने उठाता है, तब मुंह में आने से पहले बीच में ही चावल का एक दाना नीचे गिर जाता है। जीव की इच्छा तो बीस दाने को उठाने की थी, परन्तु एक दाने को भी नीचे गिरने से बचा नहीं सका। आशय यह है कि जब एक दाने को उठाने में भी जीव का इच्छारुप विकल्प कार्य नहीं करता तो उन्नीस दाने को मैंने कैसे उठाया? वहाँ अज्ञानी समाधान कर लेता है कि उन्नीस-बीस तो चलता है, एक दाना गिर गया, परन्तु उन्नीस को तो मैंने उठाया न? ज्ञानी कहते है कि जब एक दाना भी अपनी स्वतंत्र योग्यतानुसार थाली में वापिस गिर जाता है, तब उन्नीस दाने भी अपनी स्वतंत्र योग्यतानुसार पेट में चले जाते हैं।

आप मानते हैं कि माता-पिता का चयन आपने नहीं किया। बेटे-बेटी का चयन आपने नहीं किया। भाई-बहन का चयन आपने नहीं किया। परन्तु पत्नी या पति को तो आपने अपनी पसंद से चुना है। ज्ञानी कहते हैं कि माता-पिता, बेटे-बेटी, भाई-बहन की तरह पति-पत्नी भी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतानुसार मिलते हैं और बिछुडते हैं। जीव के विकल्प का इन सम्बन्धों के संयोग और वियोग में कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

अलोकाकाश के मध्य में स्थित यह लोक किसी भी पर के आश्रय के बिना अपनी स्थान पर स्थित है, तो लोक में स्थित पदार्थों को अपनी स्थिति के लिए किसी परपदार्थों के आधीन होने की क्या आवश्यकता है?

एक भी संयोग एवं वियोग का कर्ता आत्मा नहीं है। कर्मोदय के निमित्त से अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतानुसार संयोग एवं वियोग सहज ही मिलते एवं बिछुडते रहते हैं।

इस जीव का इस भरतक्षेत्र में एवं इस पंचम कलिकाल में जन्म हुआ, इसमें आत्मा का क्या कर्तृत्व है? कुछ भी तो नहीं। अज्ञानी जीव कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त होने वाली बाह्य परिस्थिति का कर्ता स्वयं को मानता है। परन्तु किसी भी परिस्थिति में आत्मा का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। यदि आत्मा संयोग एवं वियोग का अकर्ता है, तो यह शंका होना स्वाभाविक है कि अब आत्मा के हित के लिए क्या करें?

अधिकांशत: तथाकथित विद्वान मानते हैं कि संयोग एवं वियोग

में आप कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। परन्तु आप अपने परिणामों को पलटकर पुरुषार्थ सकते हैं। अपने भावों पर संयम रखने को पुरुषार्थ मानते हैं। मित्र के संयोग में राग नहीं करना पुरुषार्थ है और शत्रु के संयोग में द्वेष नहीं करना पुरुषार्थ है। महापुरुषों के जीवन में भी अनेक प्रकार की अनुकूलता और प्रतिकूलता आती है, परन्तु वे अनुकूल संयोगो में राग नहीं करते हैं और प्रतिकूल संयोगो में द्वेष नहीं करते हैं। अतः राग-द्वेष नहीं करना ही आत्मा का पुरुषार्थ है।

वीतरागी परमात्मा द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान में समझने योग्य विशेष बात तो यह है कि जिस प्रकार अघाति कर्म के उदय के निमित्त से बाह्य में संयोग मिलते हैं, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा में मोह-राग-द्वेष के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार संयोग में परिवर्तन करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार संयोगीभाव में परिवर्तन करना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

सम्यग्द्रष्टी जीवों को तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के योग्य शुभभाव उत्पन्न होते हैं, वे शुभभाव भी उदयगत भाव है। मुनिराजों को महाव्रादि पालने का शुभभाव उत्पन्न होते हैं, वे शुभभाव भी उदयगत भाव है। ज्ञानी अन्य जीवों का हित करने में तो असमर्थ ही है, साथ-साथ अन्य जीवों को हित का उपदेश देने का जो शुभभाव उत्पन्न होता है, उस भाव को रोकने में भी असमर्थ है।

राग एवं द्वेष की पर्याय तो निश्चित ही है, साथ ही रागादि भावों की उत्पत्ति के निमित्त भी क्रमबद्ध में सुनिश्चित ही है। लोक में यदि किसी व्यक्ति के निमित्त से व्यापारादि में नुकसान हो जायें, तो कुछ लोग समाधान करने हेतु कहते हैं कि उस व्यक्ति पर क्रोध मत करो, जिसके निमित्त से व्यापार में नुकसान हुआ है। क्योंकि यदि वह व्यक्ति निमित्त के रुप में नहीं होता, तो कोई दूसरा व्यक्ति होता। जब स्वयं के ही कर्मो का उदय आता है तब जीव को भोगना ही पडता है, अतः निमित्त पर दोषारोपण मत करो। वस्तुस्थिति ऐसी अद्भूत है कि नुकसान तो क्रमबद्ध में निश्चित है, साथ ही जिस निमित्त से नुकसान होना होता है, वह निमित्त भी क्रमबद्ध में निश्चित है, उस निमित्त की जगह क्रमबद्ध में कोई दूसरा निमित्त कैसे हो सकता है?

उपादान के यथायोग्य परिणमन के साथ-साथ निमित्त भी क्रमबद्ध में सुनिश्चित ही है। यदि निमित्त क्रमबद्ध में निश्चित नहीं होता, तो एक निमित्त की जगह कोई अन्य निमित्त आ जाता। ऐसी स्थिति में एक जीव का दूसरे जीव के साथ कर्मो का ऋणानुबंध छूटता कैसे? अतः उपादान और निमित्त दोनों ही क्रमबद्ध में निश्चित होते हैं, क्योंकि कर्मो का ऋणानुबंध भी क्रमबद्ध में सुनिश्चित होता है। आत्मा के ज्ञान की पर्याय में कौन-सा ज्ञेय जानने में आयेगा, यह जितना सुनिश्चित है, उतना ही किस ज्ञेय में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होंगे यह भी सुनिश्चित ही है।

वीतरागी एवं सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि जिस प्रकार संयोग की पर्याय क्रमबद्ध है, उसी प्रकार संयोगीभाव की पर्याय भी क्रमबद्ध है।

आत्मा क्रोधादि विकारी भावों का अकर्ता है क्योंकि जब कोई आपको कहे कि आप क्रोध करो, परन्तु आप क्रोध नहीं करते। जब दूसरी बार क्रोध करने के लिए कहे तो भी आप क्रोध नहीं करते हैं। जब बार-बार क्रोध करने के लिए कहे तो क्रोध करने की बात तो दूर, आप उनके सामने हँसते हैं, आपको हँसी आती है। वहीं दूसरी ओर जब आप अत्यंत क्रोधित होते हैं, तब आपको कोई कहे कि क्रोध मत करो, लोग आपको क्रोध नहीं करने के लिए आपको पकडकर रखते हैं फिर भी आप क्रोध करते हैं। ऐसा क्यों? सीधी-सी बात है, जब क्रोध आने योग्य चारित्र मोहनीयकर्म का उदय होता है, तब क्रोध आता है। और जब क्रोध आने योग्य चारित्र मोहनीय कर्म का उदय नहीं होता है, तब क्रोध नहीं आता है। कभी-कभी करोडों रुपये दान में देने का भाव आ जाता है और कभी-कभी एक रुपये के लिए भी टेक्सी वालें या सब्जी वालें के साथ बहस करते हैं। आशय यह है कि कर्मोदय के निमित्त बिना तो कोई विकार उत्पन्न होता नहीं, इसीलिए विकारीभाव को औदयिकभाव कहा है। मैं औदयिकभाव नहीं हूँ, मैं तो परम पारिणामिकभाव हूँ। यहाँ भाव शब्द सुनकर चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भाव

तो जीव का स्वभाव है। केवली भगवान को भी पारिणामिकभाव एवं क्षायिकभाव दोनों ही होते हैं।

यहाँ ऐसी शंका होना स्वाभाविक है कि आत्मा संयोग एवं संयोगीभाव में रंच मात्र परिवर्तन कर ही नहीं सकता क्योंकि संयोग एवं संयोगीभाव की पर्याय तो क्रमबद्ध में निश्चित है, तब फिर आत्मा धर्म करने के लिए पुरुषार्थ क्या करें? ज्ञानी कहते हैं कि **संयोग एवं वियोग क्रमबद्ध में निश्चित है, रागादि संयोगीभाव क्रमबद्ध में निश्चित है, संयोग एवं संयोगीभाव से भिन्न मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा भेद जानने वाली पुरुषार्थ की पर्याय भी क्रमबद्ध में निश्चित है, फिर भी उपदेश की भाषा ऐसी होती है कि स्व-पर का भेदज्ञान करो और पुरुषार्थ करो।**

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के काल में अनिवार्यरुप से पांचो समवाय विद्यमान होते हैं। १. स्वभाव २. पुरुषार्थ ३. निमित्त ४. काललब्धि ५. होनहार.

जिस प्रकार निमित्त नामक समवाय से ही कार्य की उत्पत्ति मानने पर एकांतिक मान्यता का पोषण होता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ नामक समवाय से ही कार्य उत्पत्ति मानने पर भी एकांतिक मान्यता का ही पोषण होता है। एक मात्र ज्ञायक का निर्विकल्प अनुभव होने पर ही क्रमबद्धपर्याय का स्वीकार होता है। जब क्रमबद्धपर्याय का स्वीकार होता है, तब यह भी स्वीकार होता है कि कार्य की उत्पत्ति पांचो समवायपूर्वक होती है। फिर भी व्यवहार में उपदेश की भाषा ऐसी ही होती है कि जगत के भौतिक विषयों को एकत्रित करने के लिए हे जीव! तू इतनी मेहनत करता है, तो आत्मा की अनुभूति के लिए पुरुषार्थ क्यों नहीं करता?

वस्तु स्वरुप की द्रष्टि से देखने पर जैसे राग की पर्याय क्रमबद्ध में निश्चित है, ऐसे ही भेदज्ञान एवं वीतरागता की पर्याय भी क्रमबद्ध में निश्चित है। परन्तु खास बात तो यह है कि कर्तृत्वबुद्धि के भारवहन पीडित अज्ञानी किसी न किसी पर्याय का कर्ता स्वयं को मानता है और सुखी होने का उपचार करता है।

स्वयं को साधक मानकर ध्यान करने हेतु बैठने वालें लोग द्रव्य एवं पर्याय के भिन्न स्वरुप को भूल ही जाते हैं। ऐसा साधक कहता है कि मैं आत्मा संयोग एवं संयोगीभाव का अकर्ता हूँ, अत: मुझे संयोग एवं संयोगी भाव का ध्यान नहीं करना है। मैं आत्मा का ही ध्यान करना चाहता हूँ।

ध्यान स्वयं पर्याय है। पर्याय ध्यान करती है। मैं भगवान आत्मा ध्यान करने वाला तत्त्व नहीं हूँ, बल्कि पर्याय जिसका ध्यान करती है, ऐसी क्षणिक ध्यान की पर्याय का विषयभूत मैं त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही हूँ। मुझे आत्मा का ध्यान करना है, ऐसे विकल्प के काल में अज्ञानी का एकत्व ज्ञायक में नहीं होता बल्कि मुझे ज्ञायक का ध्यान करना है, ऐसे ध्यान सम्बन्धी विकल्प में एकत्व होने से अज्ञानी दु:ख का ही अनुभव करता है।

निर्मल पर्याय प्रकट करने के लिए अज्ञानी इतना आकुलित होता है कि उसे पर्याय से द्रष्टि हटती ही नहीं है, यही कारण है कि उसे द्रव्य पर द्रष्टि स्थापित नहीं होती। भविष्य में निर्मल पर्याय प्रकट होगी ऐसा विकल्प ही वर्तमान दु:ख का कारण होता है। वैज्ञानिक तो यहाँ तक कहते हैं कि बच्चा तब से बुढा होने लगता है जब से भविष्य के सम्बन्ध में सोचना प्रारम्भ करता है। भविष्य सम्बन्धी विकल्प ही त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में द्रष्टि केन्द्रित नहीं होने को सिद्ध करता है। ज्ञानी को पर्याय की रुचि नहीं होती। पर्याय में एकत्व नहीं होता। ज्ञानी द्रव्य की रेखा को छोडकर पर्याय के बिन्दु में सुख नहीं मानते। ज्ञानी सिन्धु को छोडकर बिन्दु में तन्मय नहीं होते।

संयोग-वियोग एवं शुभाशुभ भावरुप अशुद्ध पर्याय की तरह शुद्ध पर्याय भी क्रमबद्ध में सुनिश्चित है, इसलिए ज्ञानी न तो संसार का नाश करते हैं और न ही मोक्ष को प्रकट करते हैं। ज्ञानी तो संसार की व्ययरुप और मोक्ष की उत्पादरुप क्रमबद्धपर्याय को मात्र जानते हैं। ज्ञानी तो मिथ्यात्व की व्ययरुप और सम्यक्त्व की उत्पादरुप क्रमबद्धपर्याय को मात्र जानते हैं।

अक्रमस्वभावी भगवान आत्मा की निर्विकल्प आत्मानुभूति होने पर क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा सहज ही होती है। जिस व्यक्ति ने माला के धागे को अखण्ड माना है, उस व्यक्ति को ही माला में बद्ध मोती के क्रमबद्ध होने की श्रद्धा होती है। उसी प्रकार द्रव्य की अखण्डितता का स्वीकार किये बिना द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है, ऐसा स्वीकार नहीं हो सकता।

अनादिकाल से मिथ्याद्रष्टी जीव कर्तृत्त्वबुद्धि के भारवहन से पीडित है, इसलिए जगत के परपदार्थो की पर्याय के परिवर्तन से निवृत्त होना चाहता है और साथ ही सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकट करना चाहता है। परन्तु जब तक पर्याय पर द्रष्टि रहती है, तब तक द्रव्य पर द्रष्टि जाती नहीं। ज्ञानी की द्रष्टि द्रव्य पर ही होती है, परन्तु द्रव्यद्रष्टि के फल में प्रकट होने वाली निर्मल पर्याय का हिसाब ज्ञानी नहीं रखते हैं। बच्चे को कहते हैं कि जो क्रिकेटर देश के लिए खेलते हैं, उन्हें धन मिलता है, ख्याति मिलती है। परन्तु तुम क्रिकेट खेलते हो, इतना समय गंवाते

हो, तुम्हें क्या मिलेगा? वह बच्चा कहता है कि मुझे भविष्य में क्या मिलेगा इसका तो मैंने विचार भी नहीं किया। मुझे तो खेलते समय ही जो मिलना था, वह मिल गया। ज्ञानी मोक्ष के सुख की चाह एवं तत्सम्बन्धी विकल्पों में उलझकर वर्तमान पर्याय में ज्ञायक से द्रष्टि नहीं हटाते। ज्ञायक पर द्रष्टि करने का फल ज्ञानी को वर्तमान में ही मिल जाता है। ज्ञायक की निर्विकल्प अनुभूति के काल में प्रकट होने वाला सुख ही वर्तमान निर्विकल्प अनुभूति का प्रकट फल है। इन्द्रिय ज्ञान आत्मा का सामर्थ्य नहीं है और इन्द्रिय सुख आत्मा का वैभव नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान आत्मा का सामर्थ्य है और अतीन्द्रिय सुख आत्मा का वैभव है। **इन्द्रिय ज्ञान का फल इन्द्रिय सुख है और अतीन्द्रिय ज्ञान का फल अतीन्द्रिय सुख है।**

अध्यात्म क्षेत्र में भी अधिकांशत: लोग इस सत्य को जानने से अत्यंत दूर है कि शुभभाव के क्षण में आत्मा में उत्पन्न होने वाली शांति भी विकल्प की पूर्ति की शांति है। देवदर्शन करके जो आनन्द आता है, वह क्या है? देवदर्शन करने का विकल्प पूर्ण हुआ, इसी कारण शांति का अनुभव होता है। यदि दस मिनिट के लिए देवदर्शन करने गये थे और दस मिनिट दर्शन करने के बाद जिनमन्दिर भीड हो गई हो और बाहर जाने का रास्ता न हो, तब आनन्द नहीं आता है क्योंकि तब बाहर जाने का विकल्प है और उस विकल्प की पूर्ति नहीं हो रही है। इसप्रकार अज्ञानी विकल्प की पूर्ति में सुख और विकल्प की अपूर्ति में दु:ख मानता है।

अज्ञानी जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा को स्थापित करता है, वह क्या है? उसके स्वयं के विकल्प की स्थापना ही तो है। परमात्मा का सत्य स्वरुप तो उसने आजतक प्रत्यक्ष तो जाना नहीं है, परन्तु स्वयं के विकल्प में जैसा परमात्मा का स्वरुप जानता है, ऐसी ही परमात्मा की प्रतिमा की स्थापना करता है। भगवान का स्वरुप तो एक वीतराग ही है, फिर भी सारे जगत में भगवान की तरह-तरह की प्रतिमा होने का कारण यही है कि भगवान के सम्बन्ध में लोगों के विकल्प भिन्न-भिन्न है। अज्ञान दशा में जीव को वीतरागता उपादेय नहीं लगती, परन्तु अपने विकल्प ही उपादेय लगते हैं।

ज्ञायक की अनुभूति के पूर्व ज्ञायक की अनुभूति का विकल्प होने से अज्ञानी को ज्ञायक की अनुभूति में भी ज्ञायक की अनुभूति के विकल्प की पूर्ति का सुख ही लगता है। परंतु निर्विकल्प अनुभूति के काल में ज्ञायक की अनुभूति के विकल्प की पूर्ति का सुख नहीं होता है बल्कि स्वाभाविक सुख होता है। ज्ञायक की अनुभूति के काल में उपयोग परपदार्थो एवं परपदार्थो के विकल्पों से भिन्न एक मात्र ज्ञायक में ही स्थिर होता है, अतः आत्मानुभूति का अतीन्द्रिय सुख विकल्पों से निरपेक्ष निराकुलतामय होता है।

जब कोई व्यक्ति आतंकवादी को हिंसक मानकर उस पर क्रोध करता है, तब स्वयं में उत्पन्न होने वाला क्रोध का भाव भी हिंसा ही है, इस बात की ओर स्वयं की द्रष्टि नहीं जाती है। जब जीव स्वयं के क्रोधादि हिंसक विकल्पों भी नहीं रोक सकता, तो दूसरे जीवों में उत्पन्न होने वाले हिंसक विकल्पों को कैसे रोक सकता है? फिर भी कर्त्तृत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी पर के विकल्पों में परिवर्तन करता चाहता है, परन्तु विकल्पों को उदयगत नहीं जानता है, नहीं मानता है और उन विकल्पों से मुक्त नहीं होता है।

ज्ञायकभाव स्वयं तो कार्यरुप परिणमित नहीं होता, परन्तु जब पर्याय में पुरुषार्थरुप परिणमन होता है, तब ज्ञायकभाव कारण भी नहीं होता। यदि पर्याय में ज्ञायक की अनुभूति नहीं होती है, तो पर्याय में ही दु:ख का अनुभव होता है और यदि पर्याय में ज्ञायक की अनुभूति होती है, तो पर्याय में ही सुख का अनुभव होता है। ज्ञायक को कभी दु:ख भी नहीं होता और कभी सुख भी नहीं होता है, क्योंकि ज्ञायक तो मात्र ज्ञायक ही है। मैं ज्ञायक ही हूँ।

ज्ञायक सम्यग्दर्शन की पर्यायरुप तो नहीं है, कार्यरुप तो नहीं है, परन्तु सम्यग्दर्शन की पर्याय का कारण भी नहीं है। यदि किसी जीव को चार बजे सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, तब चार बजे सम्यग्दर्शन का कारण ज्ञायक हुआ ऐसा नहीं है। बल्कि श्रद्धा गुण की अनादि-अनन्त पर्याय के क्रम में चार बजे मिथ्यात्व से सम्यत्वरुप परिणमन सुनिश्चित ही था, अतः

सम्यग्दर्शन चार बजे प्रकट हुआ। ज्ञायक तो त्रिकाल है, तो फिर सम्यग्दर्शन त्रिकाल क्यों नहीं होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, अतः यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में ही नहीं, ज्ञायक तो त्रिकाल ही पर्याय से अछूता है। मैं ज्ञायक ही हूँ।

मिथ्याद्रष्टी स्वयं को मिथ्याद्रष्टी या सम्यग्द्रष्टी या साधु या अरिहंत या सिद्ध माने, ऐसा हो सकता है, पर्याय में एकत्व करे, ऐसा होता है, परन्तु सम्यग्द्रष्टी स्वयं को मिथ्याद्रष्टी नहीं मानते, साथ ही सम्यग्द्रष्टी स्वयं को सम्यग्द्रष्टी भी नहीं मानते, साधु स्वयं को साधु नहीं मानते, अरिहंत स्वयं को अरिहंत नहीं मानते, सिद्ध स्वयं को सिद्ध नहीं मानते। कहने का आशय यह है कि सम्यग्द्रष्टी से लेकर सिद्ध पर्यंत समस्त ज्ञानी स्वयं को अनित्य पर्याय स्वरुप नहीं मानते, समस्त ज्ञानियों का एकत्व तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में ही होता है।

जगत की एक पर्याय का अस्वीकार करने से अनन्त केवलज्ञानी एवं उनकी अनन्तानन्त पर्याय का अनादर होता है। निजात्म द्रव्य को जानने से अनन्त केवलज्ञानी एवं उनकी अनन्तानन्त पर्याय का आदर होता है। अज्ञानी जिस पर्याय का अस्वीकार करता है, उस पर्याय को अनन्त केवलज्ञानी अपने केवलज्ञान में सहजरुप से जानते हैं। सहजरुप से जानना ही सहज स्वीकार है। जब अज्ञानी एक पर्याय का अस्वीकार करता है, तब उन समस्त केवलज्ञानी की अनन्तान्त केवलज्ञान पर्याय का अस्वीकार होता है, जिन पर्यायों में इस एक पर्याय का स्वीकार होता था, होता है और होता रहेगा।

केवलज्ञानी जगत के क्रमबद्ध परिणमन को मात्र जानते हैं, परन्तु जगत के परिणमन को रंचमात्र भी करते नहीं हैं। अज्ञानी जाननेरुप कार्य को ही सर्वज्ञ का कर्तृत्व मानता है, यही कारण है कि वह केवलज्ञानी को जगत के परिणमन का कर्त्ता मानता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति निमित्तज्ञानी के पास जाकर पूछता है कि मैं अपनी बिमारी से बहूत परेशान हूँ, आप मुझे बताईए कि मेरा स्वास्थ्य कब ठीक होगा? वह ज्ञानी अपने ज्ञान में जानकर उसे बताते हैं कि आप दो दिन के बाद

ठीक हो जायेंगे। दो दिन के पश्चात् जब इस व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक हो जाता है, तब वह मानता है कि इन ज्ञानी ने ही मेरा स्वास्थ्य ठीक किया है। अहो! इन ज्ञानी के पास अवश्य कोई जादू है, क्योंकि वे जैसा बोलते हैं वैसा ही होता है। सत्य तो यह है कि ज्ञानी ने उसे स्वस्थ नहीं किया है, उन्होंने तो अपने ज्ञान में सिर्फ जाना था कि दो दिन तक इस व्यक्ति की बिमारी रहेगी और दो दिन के बाद बिमारी से मुक्ति मिलेगी।

क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि का आधार सर्वज्ञ की सर्वज्ञता है, परन्तु जगत की समस्त क्रमबद्धपर्याय का आधार सर्वज्ञता नहीं है, बल्कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं या पर्याय स्वयं ही क्रमबद्धपर्याय का आधार है। ८ कर्मो से बंधे हुए आत्मा को ० कर्म की ओर ले जानी वाली प्रवचनसार की गाथा ८० में कहा है कि **जो अरिहंत भगवान को द्रव्य से, गुण से, पर्याय से जानता है, वह निजात्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है।** चूंकि अरिहंत भगवान की केवलज्ञान की एक समय की पर्याय को जानने से ही सारा जगत जानने में आ सकता है, क्योंकि केवली की प्रत्येक पर्याय जगत को जानती है, फिर भी वहाँ सर्वांगरुप से अरिहंत भगवान के द्रव्य, गुण एवं पर्याय को जानने की बात कही है, ताकि जीव सर्वांगरुप से क्रमबद्धपर्याय का स्वरुप भी समझ सकें।

जीव के अनन्त गुणों में एक ज्ञान नामक विशेष गुण है, अतः वह जगत के समस्त द्रव्यों को जानता है। जगत के समस्त द्रव्यों के अनन्त गुणों में प्रमेयत्व नामक सामान्य गुण है, अतः वे समस्त द्रव्य किसी न किसी ज्ञान में जानने में आते हैं। **केवली भगवान केवलज्ञान में लोकालोक के समस्त ज्ञेयों को जानते है, उसमें ज्ञान गुण की प्रधानता है और लोकालोक के समस्त ज्ञेय केवली भगवान के केवलज्ञान में जानने में आते हैं, उसमें जगत के समस्त ज्ञेयों के प्रमेयत्व गुण की प्रधानता है।**

बाहुबली मुनिराज को बारह महिने तक केवलज्ञान प्रकट नहीं हुआ क्योंकि ज्ञान पर्याय की लोकालोक को जानने की योग्यता नहीं पकी थी, साथ ही लोकालोक के समस्त ज्ञेयों की बाहुबली के केवलज्ञान में जानने में आने की भी योग्यता नहीं पकी थी। आत्मिक पुरुषार्थ निज

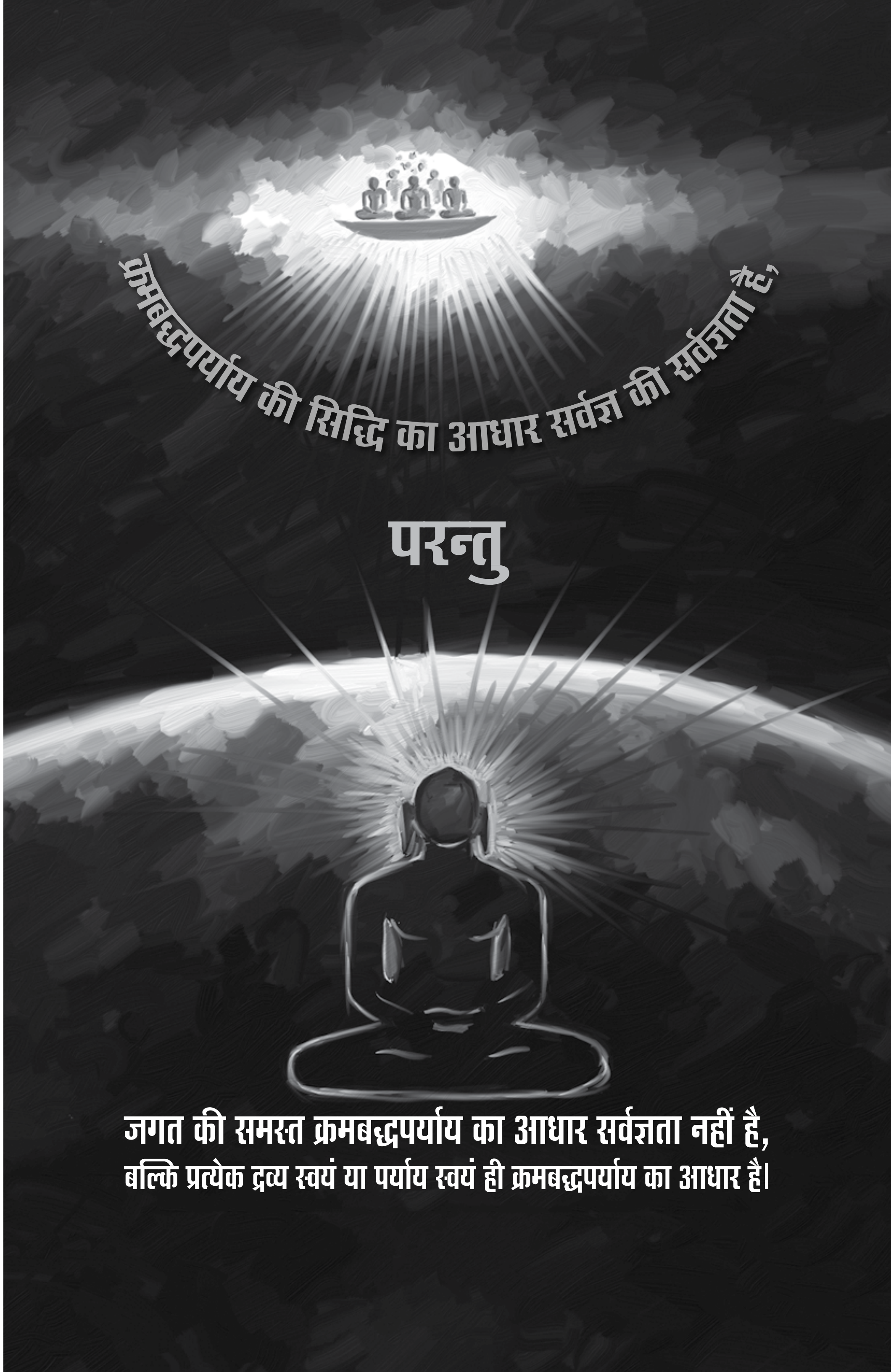

आत्मा में ही घटित होता है, अतः जगत के ज्ञेयों की योग्यता को गौण करके केवलज्ञान प्रकट करने का उपदेश दिया जाता है। वह उपदेश भी व्यवहार ही है।

एक आत्म द्रव्य को जानने पर ही वीतरागी देव की यथार्थ श्रद्धा होती है। वीतरागी देव की श्रद्धा का तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान की श्रद्धा भी सम्यग्द्रष्टी को ही होती है। केवलज्ञान की श्रद्धा ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है। निज आत्म द्रव्य में एकत्व होने से आत्म द्रव्य की श्रद्धा के बल पर पर्याय के परिवर्तन करने के कर्तृत्वरुप अहंकार का भाव ज्ञानियों को एक क्षण के लिए भी उत्पन्न नहीं होता है।

क्रमबद्धपर्याय से सिद्ध होता है कि जगत में अचानक कुछ भी नहीं होता। सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ श्रद्धानी सम्यग्द्रष्टी के लिए जगत में कुछ भी अचानक नहीं होता है। भविष्य की पर्याय को नहीं जानने के कारण एवं भविष्य की पर्याय को जानने वालें सर्वज्ञ को नहीं जानने के कारण अल्पज्ञानी मिथ्याद्रष्टी को निरंतर आकस्मिक घटनाओं के घटित होने का भय रहता है। **क्रमबद्धपर्याय को जानकर एवं ज्ञायकस्वभाव के बल पर ज्ञानी अकस्मात आदि सप्तभयों से मुक्त होते हैं।**

क्रमबद्धपर्याय का स्वरुप क्रमबद्धपर्याय पर ही द्रष्टि टिकाने के लिए नहीं समझाया गया है। याद रहे कि क्रमबद्धपर्याय को मात्र जानना है और त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव जानना भी है, एकत्वपूर्वक मानना भी है और उसमें लीन भी होना है।

जब आप ज्ञायक के स्वरुप का ही चिन्तन-मनन करते हैं, तब कोई कहे कि आप तो अकेले ज्ञायक-ज्ञायक ही कर रहे हैं। याद रहे कि ज्ञायक का वास्तविक चिन्तन-मनन जिन्हें होता है, उन्हें समस्त पर्याय अनित्य ही लगती है और नित्य ज्ञायक ही सारभूत है, ऐसा स्मरण निरंतर होता है। उन्हें जगतजनों द्वारा होने वाली प्रशंसा और निंदा भी पर्याय होने अनित्य एवं असार ही लगती है। कर्तृत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी को ऐसा ही लगता है कि इस जीव को कुछ करना नहीं है, इसलिए एक मात्र ज्ञायक-ज्ञायक करता रहता है। वास्तव में जब तक ज्ञायक स्वभाव का सत्य परिचय नहीं

होता है, तब तक जीव को कुछ करने-धरने में ही अधर्म और धर्म लगता है। पाप क्रिया करने में अधर्म और पाप क्रिया न करने में धर्म लगता है।

निज स्वभाव की महिमा के अभाव के कारण जीव को बाह्य जड क्रियाकांड ही रुचिकर लगते हैं। **जिस जीव ने देह की क्रिया से धर्म धारण किया है, उस जीव का धर्म तो नियम से राख होने वाला है। क्योंकि देह नियम से राख होने वाला है।** अतः जिस जीव ने ज्ञायक के ज्ञान, श्रद्धान एवं चारित्र को धर्म समझकर आत्मा में धर्म धारण किया है, उस जीव का धर्म भी अनन्तकाल तक टिककर रहेगा। ज्ञायक ही लोक में सर्वोत्कृष्ट द्रव्य है। इस कथन का आशय जीव में अहंकार का भाव उत्पन्न कराना नहीं है, बल्कि स्वयं की पूर्णता का स्वीकार कराना है। स्वयं की पूर्णता का स्वीकार होने पर परपदार्थो से स्वयं को पूर्ण एवं तृप्त करने की लोभ की वृत्तियाँ छूट जाती है।

वह व्यक्ति महान नहीं है, जो कहता हो कि इस जगत में सब कुछ सम्भव है। वह व्यक्ति महान नहीं है, जो कहता हो कि इस जगत में सब कुछ असम्भव है। वह व्यक्ति महान है, जो कहे कि इस जगत में कुछ तो सम्भव है और कुछ असम्भव है। **आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति के फल में अनन्त सुख की प्राप्ति करना सम्भव है और बाह्य भौतिक पदार्थो से स्वयं को तृप्त करना कदापि सम्भव नहीं है। सम्भव और असम्भव के भेद को जो जान लेता है, वह व्यक्ति जीवन के रहस्य को जान लेता है। वही जीव अनन्त सुख की यात्रा के लिए चलने लगता है।**

बुढापे में शरीर में शक्ति नहीं बचने से देह में एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी मानता है कि मैं अशक्त हो गया हूं। ज्ञानी कहते हैं कि अब शरीर में शक्ति नहीं रही, ऐसा निर्णय किसने किया? **शरीर की अशक्ति का निर्णय करने वाला ज्ञान त्रिकाल शक्तिशाली है, मैं त्रिकाल शक्तिशाली हूँ, नित्य अनन्त शक्तियुक्त भगवान आत्मा की सत्ता स्वयं के कारण है, अतः स्वयं के अस्तित्व के लिए किसी भी शरीरादि परपदार्थो के आधीन होने की रंच मात्र आवश्यकता नहीं है।**

जब आप अपना पर्स खोलते है और पर्स में पैसे नहीं होने दुःखी

होते हैं। तब यह याद रहना चाहिए कि पर्स में पैसे नहीं है ऐसा निर्णय किसने किया? पैसे के होने का निर्णय और नहीं होने का निर्णय करने वाला ज्ञान नित्य विद्यमान है। **आत्मा के ज्ञान स्वभाव के बल पर प्रत्येक परिस्थिति में जीव को चाहिए कि वह स्वयं को कदापि हीन न माने।**

माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि परिवारजनों या मित्रों का मरण हुआ, अब वे यहाँ नहीं रहे। उनकी अनुपस्थिति का निर्णय करने वाला ज्ञान स्वभाव निरंतर नित्य उपस्थित ही है। **अतः किसी भी प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोगो के काल में ज्ञान स्वभाव और ज्ञायक भाव का चिन्तन-मनन होता रहे, तो जीव की द्रष्टि संयोगो से हटकर सहज ही अंतर्मुख होगी।**

जब आप किसी का नाम या वस्तु को याद करने की कोशिश करते हैं फिर भी याद नहीं आता है। तब आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वस्तु याद नहीं आ रही, ऐसा निर्णय जिस ज्ञान ने किया, वह ज्ञान जिसका स्वभाव है, वह आत्म द्रव्य त्रिकाल विद्यमान है। क्षणिक समझ को असार जानकर समझदार की महिमा आने पर जगत के किसी भी परद्रव्य की ओर द्रष्टि जाती नहीं। आत्मा स्वयं आत्मोन्मुख होकर निर्विकल्प आत्मानुभूति को उपलब्ध होता है।

एक रात एक आदमी का घोडा चोरी हो जाने के बाद उसके मालिक ने सारे गाँँव में मीठाई बाँटी। लोगों ने पूछा कि आप किस बात की खुशी के कारण मीठाई बाँट रहे हो? उस आदमी ने कहा कि आज रात को मेरा घोडा चोरी हो गया है। लोगों ने बीच में ही रोकते हुए कहा कि इसमें खुशी मनाने की बात क्या है? उस आदमी ने कहा कि जिस वक्त मेरा घोडा चोरी हो गया, उस वक्त मैं घोडे पर नहीं बैठा था, वरना मैं भी चोरी हो जाता। यह मीठाई इस खुशी में है कि, मैं तो बच गया। ''जान बची, सो लाखों पाये।'' यह लोकोक्ति हमेशा याद रखनी चाहिए।

अतः हमेशा इस बात की जागृति रहनी चाहिए कि पर्याय के पलटने के काल में मैं भगवान आत्मद्रव्य नित्य टिककर ही रहता हूँ। इसलिए किसी भी पर्याय के पलटने पर भी द्रव्य स्वभाव की नित्यता की

जागृति रहने पर पर्याय के क्षणिकपने के कारण एक क्षण के लिए भी दुःख नहीं होता।

इस लोक में व्यक्ति स्वयं से अधिक महत्त्व अपनी तसवीर को देता है। वह नहा-धोकर शुद्ध होकर अपने घर में बैठता है, फिर भी अपनी तसवीर पर लगी धूल को दूर करके तसवीर को साफ करने के सम्बन्ध में चिन्तित रहता है। वास्तव में उस व्यक्ति को तसवीर की सफाई करने में इतना चिन्तित होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। उस व्यक्ति को चाहिए कि वह उस तसवीर को साफ करने के विकल्पों में उलझने की बजाय दर्पण में देखे कि वह निर्मल ही है।

उसी प्रकार अज्ञानी जीव स्वयं से अधिक महत्त्व अपनी पर्याय को देता है। वह त्रिकाल शुद्ध है, निज स्वभाव में बिराजमान है, फिर भी अपनी पर्याय की अशुद्धता को दूर करके पर्याय को शुद्ध करने के सम्बन्ध में चिन्तन करता रहता है। वास्तव में उस जीव को पर्याय को शुद्ध करने के चिन्तन में डूबने की इतनी आवश्यकता नहीं है। उस जीव को चाहिए कि वह पर्याय को निर्मल करने के विकल्पों में उलझने की बजाय ज्ञानरुपी दर्पण में देखे कि वह भगवान आत्मा त्रिकाल निर्मल ही है।

जिस प्रकार पानी से भरे हुए गिलास में अधिक पानी डालने पर पानी छलककर जमीन पर गिर जायेगा। क्योंकि गिलास में अवकाश नहीं होने से उस गिलास में अधिक पानी कैसे रह सकता है? उसी प्रकार जब आत्मा वर्तमान देह को छोडकर आगामी भव की यात्रा के लिए प्रयाण करता है, तब वर्तमान शरीर, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थो को साथ लेकर नहीं जाता है और न ही जा सकता है। इसे आत्मा की कमजोरी नहीं समझना चाहिए कि आत्मा के इतना अशक्त है कि एक पदार्थ को भी साथ में लेकर नहीं जाता, बल्कि आत्मा की परिपूर्णता का एहसास होना चाहिए कि भगवान अनन्त गुणों से परिपूर्ण होने से उसमें भौतिक पदार्थो के प्रवेश होने की रंच मात्र सम्भावना नहीं है।

बाह्य भौतिक जड पदार्थो की बात तो बहूत दूर, अखण्ड भगवान आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्ञान रस से परिपूर्ण है, भगवान आत्मा में

विकल्प को प्रवेश करने के लिए अवकाश ही नहीं है। असंख्यात प्रदेशों के मध्य में किंचित् भी अवकाश नहीं, खण्ड नहीं है। असंख्यात प्रदेश होने पर भी भगवान आत्मा अखण्ड है, अनन्त गुणों युक्त होने पर भी भगवान आत्मा अभेद है, त्रिकाल अस्तित्व होने पर भी भगवान आत्मा एक है, ऐसे भगवान आत्मा में विकल्प प्रवेश कर ही नहीं सकता है।

विकल्प स्वयं ज्ञान स्वभाव रहित होने से अचेतन है और भगवान आत्मा ज्ञान स्वभाव सहित होने से चेतन है। जिस प्रकार आत्मा इन्द्रिय एवं मन से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा विकल्प से भी भिन्न है। विकल्प स्वयं आकुलतारुप है, भगवान आत्मा अनाकुल स्वरुप है।

धन जब आना होगा, तभी आयेगा ऐसे विकल्पों में उलझना, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है, बल्कि धन की ही रुचि है, धन में ही सुखबुद्धि है। वास्तव में जगत की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है, फिर भी जो जीव किसी विशिष्ट पर्याय में ही क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत घटित करता है, उस जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है, बल्कि किसी पर्याय विशेष में विशेष सुखबुद्धि है। सूक्ष्म द्रष्टि से देखने पर क्रमबद्धपर्याय से भी द्रष्टि हटे और अक्रमस्वभावी भगवान आत्मा में ही द्रष्टि केन्द्रित हो, यही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का यथार्थ फल है।

अनादिकाल से पर्याय में परिवर्तन करने की वृत्ति ही त्रिकाली ज्ञायक का आश्रय लेने में बाधक होती थी। परन्तु जब जीव प्रत्येक पर्याय को क्रमबद्ध जानता है, तब पर्याय से सहज ही द्रष्टि हटती है और ज्ञायक में ही स्थिर होती है। **कोई भी कृत्य महान नहीं होता है क्योंकि कृत्य स्वयं पर्याय है और त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा कृत्यरुप अनित्य पर्याय से भिन्न नित्य द्रव्य है।**

अध्यात्ममार्ग में प्रवेश करने के लिए सुबह से शाम तक आपने क्या-क्या किया? आप उन क्रियाओं का हिसाब लगाते हैं। आप लिखकर रखते हैं कि मैंने कितने सामायिक किये? कितने प्रतिक्रमण किये? मैंने कितने उपवास किये? कितने तीर्थो की कितनी यात्रा की? ज्ञानी कहते हैं कि आपने उक्त प्रत्येक क्रियाओं के काल में मैं ज्ञायक

हूँ, ऐसा अनुभव कितनी बार किया? मैं ज्ञायक हूँ, शरीर की जड क्रिया से भिन्न हूँ, ऐसा विचार कितनी बार किया? **मैं ज्ञायक हूँ, ऐसी जागृति ही धर्म है और बेहोशी ही अधर्म है।**

जिस प्रकार बायोडेटा में व्यक्ति का नाम और काम दोनों का वर्णन किया जाता है। वहाँ उसके काम तो सब ठीक लिखे हो, परन्तु नाम गलत लिखा हो, तो वह माया कहलाती है। उसी प्रकार अज्ञानी अपने द्वारा किये गये ढेर सारे कार्यो को गिना तो देता है कि, मैंने उपवास किया। मैंने सामायिक किया। मैंने प्रतिक्रमण किया। परन्तु वहाँ जितनी भी शरीर की क्रिया हुई थी, उन क्रियाओं को अपनी क्रिया मानता है। आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान के अभाव में वह बाह्य क्रियाकांड को ही धर्म की क्रिया मानता है। अज्ञानी शरीर के कार्यो को आत्मा के नाम पर मानकर बहूत लम्बा-चौडा बायोडेटा बनाकर बहूत बडा छल करता है, उसके नाम पर कि जिसने जानने-देखने के अतिरिक्त कोई भी क्रियाकांड किया ही नहीं था।

यद्यपि यह बात परम सत्य है कि प्रत्येक जीव की वर्तमान स्थिति भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक जीव का ध्येय तो एक मात्र पूर्ण वीतरागी एवं सर्वज्ञ पद की प्राप्ति करना ही है। हम यह तो देखते हैं कि महावीर भगवान वर्तमान में कैसे है? परन्तु उन्होंने अज्ञान दशा में साधना के प्रारम्भ में क्या किया था? उसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है।

अज्ञानी जीव सम्यग्द्रष्टी की बाह्य क्रियाओं को देखकर बाह्य क्रियाओं को ही आदर्श मानकर अपने जीवन में उसी प्रकार के चारित्र अपनाने को धर्म का प्रारम्भ मानता है। परन्तु ज्ञानी की अंतरंग पुरुषार्थरुप स्थिति का विचार भी नहीं करता है। ज्ञानियों ने भेदविज्ञान के अभ्यास के बल पर आत्मज्ञान प्रकट किया था। सम्यग्द्रष्टी का ही नहीं मुनियों का भी बाह्य चारित्र आदर्श नहीं मानना चाहिए। विष्णुकुमार मुनि ने मुनि दशा छोडकर अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनिराजो के संघ की रक्षा की थी, वह रक्षा का कार्य मुनि दशा के पालन करने से तो हीन ही था, परन्तु क्रमबद्धपर्याय की योग्यतानुसार मुनि की रक्षा करने का भाव उन्हें आया।

चौवीस तीर्थंकरो के वर्तमान जीवन-चरित्र को पढकर यही प्रेरणा

लेते हैं कि तीर्थंकरों ने भी मुक्ति की प्राप्ति के लिए दीक्षा अंगीकार की थी, अतः हमें भी दीक्षा अंगीकार करना चाहिए। वहाँ किसी तीर्थंकर के वर्तमान जीवन-चरित्र में उन्होंने सम्यग्दर्शन प्रकट किया था, इस बात का उल्लेख नहीं मिलने के कारण अज्ञानी जीव सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में विचार भी नहीं करता है और न ही सम्यग्दर्शन की महिमा जानता है। सत्य तो यह है कि सभी तीर्थंकर पूर्व भव से ही सम्यग्दर्शन सहित मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान के साथ ही जन्मे थे। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता ही नहीं है। **अतः याद रहे कि तीर्थंकरादि महापुरुष ने साधना के प्रारम्भ में क्या किया था? यह जानना साधक जीव के लिए वर्तमान में अधिक उपयोगी है।**

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं के काल में मैं स्वयं ज्ञायक हूँ, ऐसा अभ्यास करना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति तैरना सीखना चाहे और समुद्र के मध्य में ही जा गिरे, तो निश्चितरुप से तैर नहीं सकेगा। उस व्यक्ति को चाहिए कि वह समुद्र तट पर ही तैरने का अभ्यास करे। फिर जैसे-जैसे वह अपने कार्य में कुशल होने लगे, ऐसे-ऐसे समुद्र की गहराई में जाकर भी तैर सकता है। उसी प्रकार साधक को अपने जीवन में खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-बोलते, आदि कार्य करते-करते यह अभ्यास करना चाहिए कि इन क्रियाओं से भिन्न मैं ज्ञायक हूँ। **भेदविज्ञान में प्रवीण होने पर साधक उपसर्ग एवं परिषह को भी सहजरुप से स्वीकार कर लेता है अर्थात् उपसर्ग एवं परिषह की ओर भी द्रष्टि नहीं करता और एक मात्र ज्ञायकभाव में ही स्थिर रहता है।**

नित्य ज्ञायक की निर्विकल्प अनुभूति के बिना अज्ञानी जगत की समस्त पर्याय का सहज स्वीकार कर ही नहीं सकता है। एक महिला का पति मरणासन्न था और पत्नी धर्म का अध्ययन करती थी। कुछ दिन पश्चात् पति का मरण हुआ, पत्नी ने द्रढ संकल्प किया था कि पति का मरण होने के पर भी वह रोयेगी नहीं और उस घटना का स्वीकार कर लेगी। संकल्प के अनुसार पत्नी ने उस घटना का स्वीकार कर लिया।

वह एक बार भी नहीं रोई। सारे समाज ने इस पत्नी को पत्थरदिल और न जाने क्या-क्या कहा। पत्नी को समाज के शब्द तीर की तरह चुभे। उसने पति के मरण की घटना का तो स्वीकार कर लिया परंतु समाज के द्वारा कहे गये शब्दों का स्वीकार नहीं किया। सत्य तो यह है कि ज्ञायक का स्वीकार हुए बिना जगत की समस्त पर्याय का सहज स्वीकार हो ही नहीं सकता।

क्रमबद्धपर्याय का अध्ययन करके एक व्यक्ति ने पर्याय का स्वीकार करने का अभ्यास किया। एक दिन नौकर के हाथ से काँच का ग्लास नीचे गिरकर फूट गया। जब उस व्यक्ति ने यह देखा तो स्वीकार कर लिया कि ग्लास की फूटने का काल पक गया था, परन्तु उसी वक्त पत्नी नौकर पर बहुत गुस्सा कर रही थी। परन्तु पति से पत्नी का क्रोध बर्दाश्त नहीं हुआ और स्वयं भी बहुत दु:खी हुआ यह सोचकर कि पत्नी इतना क्रोध क्यों कर रही है? पति ने ग्लास फूटने को तो स्वीकार कर लिया परन्तु पत्नी के क्रोध को स्वीकार नहीं किया। यहाँ ऐसा प्रश्ना उपस्थित हो सकता है कि क्या पति का कर्तव्य नहीं था कि वह पत्नी को समझाकर उसके क्रोध को शांत करने का प्रयास करे? बात ऐसी है कि ज्ञानी को कदाचित् पत्नी को समझाने का भाव भी आये, तो उस समझाने के भाव का और पत्नी के क्रोध का स्वीकार उसी तरह होता है, जैसे फूटे हुए ग्लास का स्वीकार हुआ। **भाई! प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है ऐसा स्वीकार उसे ही हो सकता है, जिसने ज्ञायक का स्वीकार किया हो।**

श्रीमद राजचन्द्र जी घोडागाडी में बैठने से पहले उसके मालिक से कहते थे कि यदि तुम घोडे को चाबुक नहीं मारोगे तो ही मैं घोडागाडी में बैठुंगा। अज्ञानी को यह प्रश्न हो सकता है कि यदि क्रमबद्ध में घोडे को चाबुक खाना होगा, तो चाबुक खायेगा। क्या श्रीमद राजचन्द्र जी को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं थी? हाँ, श्रीमद राजचन्द्र जी को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा अवश्य थी, इसलिए वे घोडे के प्रति करुणा के भाव को भी क्रमबद्ध में जानते थे। वे जानते थी कि गृहस्थ की भूमिका में घोडागाडी में बैठने की क्रिया के साथ-साथ घोडे पर करुणा का भाव भी होता है।

ज्ञायक का आश्रय होने से ज्ञानी को ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। **श्रीमद राजचन्द्र जी दशा भी उन्हीं लोगों की समझ में आ सकती है, जिन्हें ज्ञायक का अनुभव हुआ है, ज्ञायक की अनुभवपूर्वक श्रद्धा हुई है।**

कुछ लोग वर्तमान में किसी साधु के शिथिलाचार को देखकर बहूत दु:ख जताते हैं, परन्तु शिथिलाचारी के शिथिलाचार को देखकर भी दु:खी होने की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् पंचमकाल में अभी, इस भरतक्षेत्र में यहाँ, ऐसे शिथिलाचारी साधु का योग अत्यंत सुलभ होगा, ऐसा अनन्त केवलज्ञानियों ने केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्यायों में जाना था, जान रहे हैं और जानेंगे। केवलज्ञानी साधु के शिथिलाचार को सहज स्वीकार करते हैं। अत: पूर्णपद की प्राप्ति के साधक जीव वस्तुस्थिति को सुव्यवस्थित जानकर एक क्षण के लिए भी व्यर्थ के वाद-विवाद में पडकर मनुष्य जीवन को व्यर्थ में ही नहीं गंवाते।

भावलिंगी मुनि को चलने का भाव भी आता है और चलते समय जीवों की रक्षा का भाव भी आता है। मुनि दोनों भावों को सहजरुप से जानते हैं, क्योंकि ज्ञायक का आश्रय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने से मुनि जानते हैं कि इस भूमिका में ऐसे भाव आते हैं।

सार यह है कि जब क्षणिक पर्याय क्रमबद्धपर्याय की योग्यतानुसार ज्ञायक का आश्रय लेती है, तब जगत की अनन्तान्त पर्याय का स्वीकार होता है। एक-एक पर्याय का स्वीकार करने से क्रमबद्धपर्याय का स्वीकार नहीं होता है। पेड की एक-एक डाली को काटने से तो पेड अधिक घटादार होता है। पेड की डाली को काटना नहीं है और न ही पेड की जड को काटना है। बस, पेड को पानी मिलना बन्द हो जाये कि पेड सहज ही नष्ट हो जायेगा। उसी प्रकार एक-एक पर्याय का स्वीकार करने का अभ्यास नहीं करना है। **जब जीव एक मात्र ज्ञायक का आश्रय लेता है और पर्याय द्रष्टि छोडता है, तब एक पर्याय का नहीं, बल्कि अनन्तानन्त पर्याय का स्वीकार सहज ही होता है।**

अज्ञानी को आज तक ज्ञायक की रुचि ही नहीं हुई है। वह ज्ञायक के विकल्प में संतुष्ट होकर ज्ञायक की अनुभूति से दूर रहा है। जब वह

ज्ञायक का चिन्तन करता है, तब ज्ञायक के विकल्प में सुख का अनुभव करने लगता है। विकल्प की ही अनुभूति के फल में अज्ञानी अनित्य भौतिक पदार्थो के समान ज्ञायक के अनित्य विकल्प में एक करके नित्य ज्ञायक के नित्य सुख को नहीं, बल्कि क्षणिक विकल्प के क्षणिक सुख को ही भोगता है।

निज आत्मद्रव्य को परद्रव्य से सर्वथा भिन्न और पर्याय से कथंचित् भिन्न कहा है। यदि पर्याय को परद्रव्य के समान सर्वथा भिन्न मान लिया जाये, तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं होगी। पर्याय को द्रव्य से सर्वथा भिन्न मानने पर पर्याय भी स्वतंत्र द्रव्य हो जायेगा। ऐसा होने पर पर्याय का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, तो सम्यग्दर्शन की पर्याय का अस्तित्व भी कैसे रहेगा?

जैसा कि - श्रद्धा गुण की पर्याय शरीर से सर्वथा भिन्न है, अत: जब श्रद्धा गुण की पर्याय शरीर में एकत्व करती है, तब मिथ्यादर्शनरुप परिणमित होती है। ऐसे ही यदि श्रद्धा गुण की पर्याय और आत्मद्रव्य सर्वथा भिन्न होता तो जब श्रद्धा गुण की पर्याय आत्म द्रव्य में एकत्व स्थापित करती तो भी मिथ्यादर्शनरुप ही परिणमित होती। वास्तव में श्रद्धा गुण की पर्याय आत्मद्रव्य में एकत्व स्थापित करते ही सम्यग्दर्शनरुप परिणमित होती है, क्योंकि **आत्मद्रव्य और आत्मद्रव्य की पर्यायें आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, बल्कि कथंचित् भिन्न है। कथंचित् भिन्न शब्द का अर्थ थोडी भिन्न है, ऐसा नहीं बल्कि किसी अपेक्षा से भिन्न है, ऐसा जानना।**

यही कारण है कि प्रत्येक परिणमन क्रमबद्ध होने पर भी परद्रव्य में परिवर्तन नहीं करने का और सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकट करने का **उपदेश** दिया जाता है और **व्यवहार की भाषा का प्रयोग करके कहा जाता है** कि हमें शीघ्रातिशीघ्र निज आत्मा का हित कर लेना चाहिए। यदि आत्मा का हित आज नहीं किया तो कभी नहीं कर पाओगे। करो या मरो, ऐसा तो नहीं, बल्कि मरने से पहले कर लो। आत्मा का हित करने का एक मात्र उपाय आत्मा का अनुभव है। यदि आज आत्मा का आश्रय नहीं लिया, तो कल लेना पडेगा। कल नहीं लिया, तो अनन्त काल के बाद भी आत्मा का ही आश्रय लेना होगा क्योंकि आत्मा के आश्रय के बिना तो मुक्ति सम्भव ही नहीं है। अत: ऐसा समझ लो कि आत्मा का हित करने के लिए ही यह अमूल्य मनुष्य भव की प्राप्ति हुई है। समुद्र में गिरे हुए मणि को बाहर निकालना अत्यंत दुष्कर है, ऐसे ही व्यर्थ में गँवाने के बाद मनुष्य भव पुन: प्राप्त होना, उतना ही दुर्लभ है।

धन का लोलुपी अज्ञानी निरंतर सोचता है कि यह भर जवानी चली जायेगी तो कमाई कब करुँगा? वह यह नहीं सोचता है कि जवानी की तरह आने वाला धन भी जाने वाला है। उसे जवानी तो अनित्य लगती है, परन्तु धन नित्य लगता है। वास्तव में जवानी भी पर्याय है और धन भी पर्याय है, दोनों ही अनित्य है। उन दोनों पर्यायों से भिन्न मैं भगवान आत्मा नित्य हूँ।

जब कोई व्यक्ति कहे कि मुझे आपको एक करोड रुपये देना है, मैं कब आऊँ? आप कहेंगे कि आज? अभी? आप जानते हैं कि इन्सान के विचारों का क्या भरोसा? कब पलट जाये? जब दूसरों के विचारों की अनित्यता को जानकर आप एक करोड रुपये के लिए दौड लगाते हैं, तब क्या आपको यह विचार आता है कि जैसे दूसरों के विचार अनित्य है, ऐसे ही एक करोड रुपये का संयोग भी अनित्य ही है। मन हो या धन हो, दोनों ही नियम से पलटने वाले ही हैं। अत: समस्त प्रकार की अनित्यता की असारता जानकर एक मात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की महानता का अनुभव होने पर समस्त पर्याय का अकर्ताभाव प्रकट होता है।

जब कोई जीव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु साधना मार्ग में प्रवेश करता है, तब वह सोचता है कि मैं जगत के भौतिक वैभव को प्राप्त करके सुखी होने की चाह में सदैव निष्फल हुआ हूँ, अत: अब तो मेरे जीवन का एक ही ध्येय है कि मुझे आत्मा का ध्यान ही करना है और कुछ भी नहीं। ज्ञानी उसे समझाते हैं कि तुम कहते हो कि मुझे आत्मा का ध्यान ही करना है। तब तुम स्वयं को पर्याय मानकर पुरुषार्थ प्रारम्भ करने का प्रयास करते हो। क्योंकि ध्यान करने वाली पर्याय है। तुम ध्यान करने वाले नहीं हो। पर्याय ध्यान करती है, इस कथन का आशय

यह है कि ध्यान की पर्याय में एकत्व रहेगा तब तक ध्यान के विषयभूत आत्मद्रव्य में एक नहीं हो सकेगा।

ज्ञायक का आश्रय नहीं होने के कारण बाह्य विषयों से निवृति पाकर भी आत्महित नहीं हो सकता। धनवान रुपये की नोटों को जैसे गिनता हैं, बाह्य त्यागी अपने शिष्यों की संख्या को ऐसे ही गिनते हैं। ज्ञायक स्वभाव में एकत्व नहीं होने उन्हें परपदार्थ ही रुचिकर लगते हैं।

यदि कोई जीव क्रमबद्धपर्याय पर प्रवचन सुनकर कहे कि क्रमबद्धपर्याय में राग उत्पन्न होना होगा तो होगा ही, अब हमें क्या करना है? ज्ञानी कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय की चर्चा सुनकर ज्ञायक सम्बन्धी प्रश्न नहीं होना और राग सम्बन्धी ही प्रश्न होना इस बात तो दर्शाता है कि उस जीव को वर्तमान में ज्ञायक से अधिक राग की रुचि है।

कोई जीव अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भावों को क्रमबद्धपर्याय की योग्यता मानता है और अन्य जीवों में उत्पन्न होने वाले रागादि भावों को पुरुषार्थ की कमजोरी मानता है, वहाँ क्रमबद्धपर्याय की योग्यता नहीं मानता है। वास्तव में इस जीव की क्रमबद्धपर्याय की योग्यता ही ऐसी होती है कि वह इसी प्रकार से क्रमबद्धपर्याय के सिद्धांत को घटित करे। यह जगत सुव्यवस्थित ही है, फिर भी अज्ञानीजनों को जगत अव्यवस्थित लगता है, अतः वे व्यवस्थित जगत को व्यवस्थित करने की कोशिश करते हैं। व्यवस्थित जगत को व्यवस्थित करने की कोशिश ही अव्यवस्थित है। यद्यपि व्यवस्थित जगत को व्यवस्थित करने की कोशिश भी विश्व की व्यवस्था का एक स्वरुप है, अतः वह भी व्यवस्थित है। इस जगत में अव्यवस्थित कुछ भी नहीं है। **जब त्रिकाली सत् भगवान आत्मा की अनुभूति होती है, तब व्यवस्थित जगत के सत्य का स्वीकार होता है।**

क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में शास्त्रों से अध्ययन करके भी अज्ञानी कुछ पर्यायों को क्रमवर्ती एवं कुछ पर्यायों को अक्रमवर्ती मानते हैं। कर्तृत्वभाव से पीडित अज्ञानी को ऐसा लगता है कि प्रत्येक पर्याय को क्रमबद्ध या क्रमनियमित मान लेंगे तो पुरुषार्थ क्या करेंगे? वे इस बात

को नहीं समझते हैं कि प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है ऐसा स्वीकार करने वाली श्रद्धा गुण की पर्याय का शुद्ध परिणमन ही पुरुषार्थ है। इस सम्बन्ध में वे अपना पक्ष देते हैं कि दस रोटी में पहली रोटी खाने के बाद कोई व्यक्ति दूसरी रोटी न खाये और चौथी रोटी खाये ऐसा हो सकता है। वे रोटी की पर्याय को अक्रमवर्ती मानते हैं।

वे कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान ने सिर्फ इतना ही कहा है कि वह व्यक्ति एक के बाद एक रोटी को खायेगा। भगवान ने क्रमनियमित तो कहा है, परन्तु क्रमबद्ध नहीं कहा है। इसप्रकार वे क्रमनियमित और क्रमबद्ध ऐसे शब्दों में उलझकर सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान में जानी गई समस्त क्रमबद्धपर्याय का नहीं, बल्कि केवलज्ञान का अस्वीकार करते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान में अनन्तकाल से यह सुनिश्चित ही था कि यह व्यक्ति पहली रोटी के बाद चौथी रोटी ही खायेगा। अज्ञानी को अज्ञानता के कारण चौथी रोटी दूसरे क्रम पर आने से कुछ पर्याय अक्रमवर्ती लगती है। वस्तुस्वरुप तो ऐसा है कि जिस प्रकार क्रमबद्ध में चौथी रोटी का चौथे क्रम पर होना सुनिश्चित था, उसी प्रकार क्रमबद्ध में वह रोटी दूसरे क्रम में खाना सुनिश्चित था। अतः क्रमनियमित एवं क्रमबद्ध ऐसे भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करके किसी पर्याय का कर्ता स्वयं को मानना और किसी पर्याय का अकर्ता स्वयं को मानना, अपनी कर्तृत्वबुद्धि को ही पुष्ट करना है। क्रम का अर्थ ही एक के बाद एक होता है, और नियमित शब्द सुनिश्चितता-बद्धता का ही द्योतक है।

प्रत्येक द्रव्य की त्रिकालवर्ती पर्याय उस द्रव्य के साथ अभेद है। उन पर्यायों में काल की अपेक्षा ही अन्तर है। द्रव्य की वर्तमान समय की पर्याय आविर्भूत होती है, प्रकट होती है और भूतकाल व भविष्यकाल की पर्यायें तिरोभूत होती है, अप्रकट होती है। जैसे - एक उंगली के तीन अंशो में से पहले अंश में सूतर का धागा, दूसरे अंश में चांदी का धागा और तीसरे अंश में सोने का धागा बंधा हो, वहाँ चांदी और सोने के धागे ढंके हुए हो, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चांदी और

सोने के धागे उंगली में बंधे हुए नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में एक ही साथ मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञान की पर्याय बंधी हुई है। अज्ञान अवस्था में मिथ्याज्ञान की पर्याय आविर्भूत है और सम्यग्ज्ञान व केवलज्ञान की पर्यायें तिरोभूत है। द्रव्य के साथ मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान एवं केवलज्ञान की पर्यायें क्रमबद्ध सुनिश्चित ही है, अतः केवली भगवान को प्रत्येक द्रव्य की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें केवलज्ञान में जानने में आती है। मिथ्याज्ञान की पर्याय को सूतर का काला धागा कहा है, सम्यग्ज्ञान की पर्याय को चांदी का उज्ज्वल सफेद धागा कहा है और केवलज्ञान की पर्याय को कभी काला नहीं होने वाला सुनहरा धागा कहा है। समस्त धागे की आधारभूत एक उंगली को अखण्ड आत्मद्रव्य कहा है।

जैसे - मोती की माला में प्रत्येक मोती क्रमबद्ध है, क्योंकि मोती का आधारभूत धागा तो अखण्ड एक ही है। जिस व्यक्ति को ऐसी श्रद्धा होती है कि धागा कभी तूटकर खण्डित नहीं हो सकता, उसी व्यक्ति को यह श्रद्धा होती है कि मोती के क्रम में कभी परिवर्तन नहीं हो सकता, समस्त मोती क्रमबद्ध ही है। उसी प्रकार द्रव्य की समस्त पर्यायें क्रमबद्ध है, क्योंकि पर्याय का आधारभूत द्रव्य तो अखण्ड एक ही है। जिस जीव को यह श्रद्धा होती है कि द्रव्य कभी खण्डित नहीं हो सकता, उसी व्यक्ति को यह श्रद्धा होती है कि पर्याय के क्रम में कभी परिवर्तन नहीं हो सकता, समस्त पर्याय क्रमबद्ध ही है।

जिस प्रकार मोती की माला में एक भी मोती अपने सुनिश्चित स्थान से आगे या पीछे नहीं हो सकता, मोती की माला में से एक भी मोती सुनिश्चित स्थान से बाहर जा नहीं सकता या एक भी अन्य मोती अन्दर आ सकता, उसी प्रकार द्रव्य के अनादि-अनन्त परिणमन क्रम में एक भी पर्याय अपने सुनिश्चित काल से आगे या पीछे नहीं हो सकती, द्रव्य की अनादि-अनन्त क्रमबद्धपर्यायों में से एक भी पर्याय सुनिश्चित काल से बाहर जा नहीं सकती या एक भी अन्य पर्याय अन्दर आ नहीं सकती।

अज्ञानीजनों को बाह्यद्रष्टि होने से मोती तो दिखाई देते हैं, परन्तु मोती के क्रमबद्ध होने का आधारभूत धागा नहीं दिखाई देता। इसी

प्रकार मिथ्याद्रष्टी को पर्याय तो जानने में आती है, परन्तु क्रमबद्धपर्याय का आधारभूत भगवान आत्मा जानने में नहीं आता है।

समस्त द्रव्य की समस्त पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है, यह जानना व्यवहार है। ऐसा व्यवहार उन्हीं ज्ञानियों को होता है, जिन्हें मैं अक्रमवर्ती गुणों का घनपिण्ड आत्मद्रव्य हूँ, ऐसा निश्चय प्रकट हुआ हैं। निश्चय प्रकट हुए बिना व्यवहार हो ही नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु भेदाभेदात्मक होती है। वस्तु का भेदरुप अंश पर्याय है और अभेद अंश द्रव्य है। काल परिवर्तन होने पर वस्तु में जो भेद उत्पन्न होता है, वह पर्यायांश है और काल परिवर्तन होने पर भी वस्तु में जो अभेदरुप से टिककर रहता है, वह द्रव्यांश है। पर्याय में भेद होता है, पर्याय क्रमिक होती है। द्रव्य अभेद होता है, द्रव्य अक्रम होता है।

अनादि-अनन्त त्रिकाल द्रव्य का स्वरुप काल के परिणमन से परिणमित होता नहीं है, अतः अक्रमस्वभावी त्रिकाली द्रव्य का एक समय में निर्विकल्प अनुभव होता है। यदि काल के परिणमन से द्रव्य के स्वरुप में भी परिणमन होता, तो निर्विकल्प अनुभूति नहीं हो सकती क्योंकि जीव को निरंतर विकल्प की उत्पत्ति होती रहती।

पर्याय में तन्मय होकर पर्याय के क्रमबद्ध का स्वीकार कदापि नहीं हो सकता। ज्ञानी क्रमबद्धपर्याय का स्वीकार करते है, क्योंकि ज्ञायकभाव के बल पर ज्ञानी को पर्याय से भेदद्रष्टि प्रकट हुई है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति बाजार में किसी वस्तु को खरीदने के लिए जाता है। वहाँ दुकारदार द्वारा बताये गये दाम का स्वीकार करता है, उस ग्राहक को अपने पर्स में इतने रुपये है, मैं धनपति हूँ इस श्रद्धा के बल पर चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह निश्चिंत होकर दाम चुका देता है। इसीप्रकार ज्ञानी अपने निज ज्ञायकभाव में एकत्व के बल पर जगत की प्रत्येक पर्याय का स्वीकार करते हैं। ज्ञायक की श्रद्धा के बल के बिना किसी भी पर्याय का स्वीकार नहीं होता, बल्कि मिथ्याद्रष्टी जिस पर्याय को स्वीकार कर लेता है, उस पर्याय में जीव की स्वार्थवृत्ति ही कारणरुप है।

वर्तमान पर्याय में क्रोध उत्पन्न होता है, तब आत्मद्रव्य क्रोध की

पर्याय के समीप नहीं जाता है और क्रोध की पर्याय भी आत्मद्रव्य के समीप नहीं आती है। आत्मद्रव्य अपने स्थान पर स्थित है और पर्याय भी अपने-अपने स्थान पर स्थित है। जब काल का परिणमन होता है, तब अनन्तान्त सुनिश्चित पर्यायों में से एक आविर्भूत पर्याय तिरोभूत होती है और एक तिरोभूत पर्याय आविर्भूत होती है। केवली भगवान प्ररुपित यह अद्भूत रहस्य है कि जगत में समस्त द्रव्य व उनकी समस्त पर्यायें अपने-अपने स्थान पर ही सुनिश्चित है। **निश्चित का स्वीकार करना ही निश्चिंत होने का उपाय है।**

आत्मा क्रोधादि भावों को ग्रहण नहीं करता है और आत्मा क्रोधादि भावों का त्याग भी नहीं करता है। क्रोध को ग्रहण करने के लिए क्रोध के समीप जाना अनिवार्य है और क्रोध का त्याग करने के लिए क्रोध से दूर जाना अनिवार्य है। प्रत्येक पर्याय अपने स्थान पर स्थित है और आत्म द्रव्य अपने स्थान पर स्थित है। अतः आत्मा का ध्रुव स्वभाव समस्त पर्यायों से अप्रभावित त्रिकाल एकरुप ही होता है।

मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव दो भिन्न द्रव्यों को एक मानता है और एकरुप ही देखता है। इसी कारण वह एक द्रव्य का कर्ता किसी दूसरे द्रव्य को मानता है। वह पानी और पात्र दोनों को एक साथ ही देखता है और दोनों की स्वतंत्र सत्ता को मानता नहीं इसलिए वह ऐसा भी मानता है कि पात्र के कारण पानी की सत्ता है। इसीप्रकार की मिथ्यात्व मान्यता का पोषण जीव और शरीर के समबन्ध में करता है। वह जीव और शरीर को एक ही मानता है, इसलिए वह ऐसा भी मानता है कि शरीर के कारण जीव का अस्तित्व है। शरीर के अस्वस्थ होने पर उसे अपने अस्तित्व की चिन्ता होने लगती है। इतना ही नहीं, बेटा-बेटी का मोह भी अपने शरीर का ही मोह है। क्योंकि बेटा-बेटी भी अपने शरीर का ही अंश है। जिस व्यक्ति ने एक किलोग्राम मीठाई खाई हो, उस व्यक्ति को उस मीठाई का अंश भी रुचिकर ही लगता है। और जिसे एक किलोग्राम मीठाई में रुचि नहीं है, उस व्यक्ति को मीठाई खाई के अंश में रुचि नहीं होती है। उसी प्रकार अपने शरीर का एकत्व होने से

बेटे के शरीर को अपना अंश मानकर मोह का भाव उत्पन्न होता है। ज्ञानी को अपने शरीर में ही मोह नहीं होता, अतः बेटे-बेटी के शरीर में भी मोह नहीं होता। ज्ञानी को किसी भी परद्रव्य में मोह नहीं होता।

भूतकाल की अनन्त पर्याय से भविष्यकाल की पर्याय अनन्तगुनी अधिक अनन्तानन्त होती है। परन्तु वर्तमानकाल की पर्याय तो एक ही होती है। जब जीव भविष्य में सम्यग्दर्शन प्रकट करने के विकल्प में तन्मय होता है, तब वर्तमान पर्याय में ज्ञायक के नित्य अनुभव को छोडकर भविष्य के अनित्य विकल्प में तन्मय होकर आकुलित एवं दु:खी होता है।

जैसे ही अगले क्षण के विकल्प में डूबा कि वर्तमान में ज्ञायक का अनुभव छूटा। यहाँ तक कि ऐसा ज्ञायक का अनुभव भविष्य में अनन्त काल तक होता रहे, ऐसी चाह में भी ज्ञायक का अनुभव छूट जाता है। भविष्य के सुख की चाह का विकल्प ही वर्तमान के दु:ख का निर्माता है। भूतकाल और भविष्यकाल के सुख को तो केवली भगवान भी वर्तमान में नहीं भोग सकते। अतः वर्तमान पर्याय में त्रिकाली ज्ञायक का आश्रय लेना और भविष्य के सुख की कल्पना नहीं करना ही अनन्तकाल तक सुखी होने का उपाय है।

जब आप कहे कि मैं भगवान आत्मा हूँ, तब ऐसा नहीं जानना चाहिए कि मैं भगवान आत्मा के सम्बन्ध में कह रहा हूँ, वहाँ यह भेद अवश्य जानना चाहिए कि वाणी स्वयं पुदगल है, वाणी बोलने का विकल्प भी जड है, परंतु मैं भगवान आत्मा हूँ। पुदगल नामक परद्रव्य मेरी पहिचान बता रहा है। अंतरंग में ऐसा भाव ग्रहण होना चाहिए कि मैं स्वयं भगवान आत्मा ही हूँ।

वास्तव में वाणी में ज्ञायक एवं ज्ञायक की अनुभूति को सर्वथा व्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं होता। समुद्र का वर्णन करने के लिए कोई व्यक्ति एक पात्र में समुद्र के पानी को भर तो लेता है और अन्य स्थान पर जाकर लोगों को पानी चखाकर को बता भी सकता है कि समुद्र कैसा होता है। परन्तु पात्र में रखे हुए पानी में समुद्र की तरंगे नहीं उछल सकती। समुद्र का सर्वांग स्वरुप पात्र में रखे हुए पानी में व्यक्त नहीं

होता। ऐसे ही आत्मानुभवी ज्ञानियों की वाणी में आत्मानुभूति में प्रकट होने वाली अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुख तरंगे नहीं उछलती है। अतः याद रहे कि आत्मानुभूति का वर्णन करना और आत्मानुभूति होना, ये दोनों भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार आत्मा और आत्मानुभूति भी भिन्न-भिन्न है। इस कथन का आशय यह है कि आत्मा द्रव्य है, जो नित्य शांत स्वरुप है, जबकि आत्मानुभूति पर्याय होने से उसमें निरंतर तरंगे उछलती रहती है।

साधक के लिए यह जानना जितना आवश्यक है कि समस्त पर्याय क्रमबद्ध है, उतना ही यह जानना भी आवश्यक है कि समस्त क्रमबद्धपर्याय से भिन्न ज्ञायक ही मैं हूँ। **जिस प्रकार निश्चितरुप से समस्त पर्याय क्रमबद्ध है, उसी प्रकार निश्चितरुप से क्रमबद्धपर्याय से भिन्न ज्ञायक है।**

मात्र जीव द्रव्य ही नहीं, अजीव द्रव्यों की पर्याय भी क्रमबद्ध में सुनिश्चित हैं। पुदगलादि अजीव द्रव्यों में ज्ञान न होने पर भी उन द्रव्यों में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि गुण होने से, वे द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण युक्त होने से, उन्हें स्वयं के परिणमन के लिए किसी भी परद्रव्य की रंच मात्र अपेक्षा नहीं है। स्वसत्ता के आधार से उन द्रव्यों की उत्पाद एवं व्ययरुप व्यवस्थित अवस्था होती ही रहती है। यही प्रत्येक द्रव्य की पर्याय के क्रमबद्धपने को सिद्ध करता है।

अज्ञानी को आत्मा की रुचि तो होती है, परन्तु पांच इन्द्रियों के विषयो की उपस्थिति में ज्ञायक की चर्चा सुहाती है। सत्य तो यह है कि उसे ज्ञायक की नहीं बल्कि पांच इन्द्रिय के विषयो की ही रुचि है। यद्यपि पांच इन्द्रिय विजयी तो भावलिंगी मुनिराज ही होते हैं परन्तु पांच इन्द्रियों के विषयो में सुखबुद्धि छूटे बिना मुनि होना तो बहूत दूर, सम्यग्दर्शन भी प्रकट नहीं हो सकता। अतः अनित्य विषय भोगो की असारता का निर्णय करके भोगों के विकल्पों से उदासीन होना साधक का लक्षण है।

वैराग्य की जनक बारह भावनाओं में सर्वप्रथम क्रम पर अनित्य भावना और अन्तिम क्रम पर धर्म भावना है। बारह भावनाओं का पाठ तो इस जीव ने अनेक बार किया परन्तु आजतक यह विचार कभी

नहीं किया अनित्य भावना को ही प्रथम क्रम पर स्थान क्यों रखा है? **बारह भावनाओं के क्रम का रहस्य तो यह है कि अनित्य की असारता का बोध हुए बिना धर्म प्रकट नहीं हो सकता।** अज्ञानी एक स्थान पर बैठकर, ध्यान मुद्रा धारण करके धर्म प्रकट करना चाहता है। वह पहली कक्षा में उत्तीर्ण हुए बिना सीधा ही बारहवीं कक्षा में जाना चाहता है, यही कारण है कि अनादिकाल से आजतक अज्ञानीजनों अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके, अनेक शास्त्रों को कंठस्थ करके भी धर्म को धारण नहीं कर सका है।

साधक को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि किस जीव को धर्म प्रकट हुआ है और किस जीव को धर्म का स्वरुप भी स्पष्ट नहीं हुआ है, इससे मेरा कोई भी प्रयोजन नहीं है। यहाँ तक कि **गृहित मिथ्यात्वरुपी जहर को पीने वालें अन्य जीवों के मिथ्यात्व पर नज़र जाना स्वयं का प्रमाद है, फिर भी स्वयं को प्रमाद एवं अप्रमाद रुप अवस्था से भिन्न त्रिकाली ज्ञायक मानना, स्वयं का सम्यक्त्व है।** यही कारण है कि मुनिराज कदाचित् गृहित मिथ्यात्व का वर्णन करते भी हैं, फिर भी वे स्वयं को प्रमत्त एवं अप्रमत्त अवस्थाओं से भिन्न ज्ञायक ही मानते हैं।

ज्ञानी शुभाशुभ रागादि भावों से सदैव उदासीन होते हैं और निज आत्मा का रसपान करते हैं। जिस समय ज्ञानी को निर्विकल्प आत्मानुभूति होती है, तब से लेकर जगत के समस्त द्रव्य एवं उनकी समस्त पर्याय सहित निजात्मा में उत्पन्न होने वाले विकल्प से भी ज्ञानी उदासीन होते हैं। लोक में जहाँ-जहाँ भेद की कल्पना की जाती है, मानी जाती है, आत्मानुभूति के पश्चात् उन समस्त परपदार्थो के भेद ज्ञानी के श्रद्धान में से विलीन हो जाते हैं। जैसा कि लोक में माना जाता है कि बेटा अपना होता है, परन्तु बेटे की बहु अपनी नहीं होती है या बेटा तो तब तक ही अपना होता है, जब तक उसकी पत्नी नहीं आती परन्तु बेटी जिन्दगीभर अपनी बेटी ही होती है। कभी-कभी भेदविज्ञानरुप चिन्तन भी होता है, परन्तु अंतरंग में मन तर्क देता है कि भले बेटे को पराया कहा, परन्तु मुझे रहना तो बेटे के साथ ही है अत: बेटे को पराया कैसे मान सकते है? इस प्रकार स्वयं का तर्क ही स्वयं का गुरु बन जाता है। ऐसी स्थिति में गुरु

के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञानी मानते हैं कि बेटा हो या बेटे की बहु हो, दोनों ही पराये है। **परपदार्थो में भेद की कल्पना करना ही विकल्प है और विकल्प में एकत्व करना ही संकल्प है, मिथ्यात्व है।**

जब कोई भिक्षुक पांच रुपया भी भोजन के लिए, पेट भरने के लिए मांगता है, तब अज्ञानी अनेक प्रश्न करता है कि कौन है? कहाँ से आया है? परन्तु एक साल के अपने बेटे के नाम पर करोडों रुपये की सम्पति छोड जाता है। वहाँ यह विचार नहीं करता है कि बेटा कहाँ से आया है? किस भव से इस भव में आया है? धन का सदुपयोग करेगा या दुरुपयोग करेगा? सत्य तो यह है कि मोहासक्ति के वशीभूत जीव को मोह के विषयभूत पत्नी-पुत्र-परिवारादि के लिए सारा जीवन और सारे जीवन में कमाया हुआ धन भी देने में कोई भी विकल्प उत्पन्न नहीं होता।

साधक को याद रहे कि जब आँख बन्द हो, तब मृत्यु की घडी में एक समय के लिए भी ऐसा भाव उत्पन्न न हों कि इस जगत में मेरा कुछ है और वह मुझसे जुदा हो रहा है या मैं किसी अपने से जुदा हो रहा हूँ। समाधि के उस अवसर पर बेटे को नजदीक बुलाकर उसके कान में कुछ कहने की बजाय पूर्व में सुने हुए गुरु के वचनों का चिन्तन-मनन करना ही श्रेष्ठ है। सारा जीवन जिन अनित्य सम्बन्धों में व्यतीत किया, व्यर्थ में गंवाया, अब एक क्षण भी पर के विकल्प में उलझकर गंवाने योग्य नहीं है।

जिस विद्यार्थी ने साल भर अध्ययन नहीं किया हो, उस विद्यार्थी को परीक्षा कक्ष में भी परीक्षा के दिन बहुत मेहनत करनी पडती है। यहाँ तक कि परीक्षा का प्रश्न-पत्र हाथ में नहीं आयें तब तक पढाई करनी पडती है। मृत्यु अंत में इसलिए ही आती है क्योंकि परीक्षा को तो अंत में ही आना होता है। पूरे जीवन में ज्ञायक के संस्कार कितने द्रढ हुये है और अनित्य की असारता कितनी भासित हुई है।

ज्ञायक को छोडकर सब कुछ पर है, अत: किसी भी पराये में अपनापन करना अनन्तकाल के लिए स्वभाव से दूर ही जाना है। याद रहे, जो भी पराया है वह अनित्य है, महावीर भगवान भी मेरे लिए

पर है अतः अनित्य है। अनित्य में नहीं अटकने का उपदेश इस बात को दर्शाता है कि हमें पर परमात्मा में भी नहीं अटकना है। भगवान महावीर की रुचि पर की ही रुचि है। जिन्हें ज्ञायक रुचि होती है उन्हें भगवान महावीर की भी रुचि नहीं होती है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि सम्यग्द्रष्टी को भगवान की भक्ति का भाव नहीं आता। सम्यग्द्रष्टी को महावीर भगवान एवं महावीर भगवान के प्रति भक्ति के शुभराग के भाव में रुचि नहीं होती है, एकत्व नहीं होता है। ज्ञानी की रुचि तो ज्ञायक में ही होती है, ज्ञानी का एकत्व तो ज्ञायक में ही होता है।

एक परमाणु मात्र में भी अपनापन न रहे, ऐसी अभूतपूर्व स्थिति तो तब ही प्रकट हो सकती है, जब त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक का अनुभव हो।

चींटी पर पैर रखने से यदि वह आत्मा का मरण हो जाता तो मुझे धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि मैं भी आत्मा हूँ, अतः कोई मुझे भी मार देगा और जब मैं स्वयं ही नहीं रहूँगा, तो मेरा धर्म कैसे रहेगा? इसलिए सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि मैं स्वयं भगवान आत्मा हूँ, मेरा कभी मरण नहीं है और मेरे धर्म का भी कभी मरण नहीं है। ऐसे तत्त्वविचार में एकाग्र होकर ज्ञायक का अनुभव होता है, तब जीव सहज ही स्थिरदशा को उपलब्ध होता है, तब चींटी आदि पर पैर रखने का प्रसंग ही नहीं आता और वह आत्मा का मरण तो होता ही नहीं है। आशय यह है कि निज आत्मद्रव्य की नित्यता स्वीकार होने पर ही अन्य जीवों की नित्यता का स्वीकार हो सकता है। आत्मद्रव्य की निर्विकल्प अनुभूति से पूर्व यदि कोई जीव स्वच्छंदी होकर पाप में प्रवृत्त होता है तो वह जीव भव-वन में परिभ्रमण करता है।

समझ कदापि समझदार से महान नहीं हो सकती। क्योंकि समझ स्वयं पर्याय है और समझदार द्रव्य है। जब कोई विषय आपकी समझ में नहीं आता, तब आपको बैचेनी होती है, परन्तु उसी समय ऐसी जागृति रहनी चाहिए कि क्षयोपशम ज्ञान में कोई बात समझ में नहीं आ सके, तो निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं परिपूर्ण भगवान आत्मा हूँ। मैं स्वयं पारिणामिक भाव स्वरुप परमात्मा हूँ।

क्षयोपशमज्ञान क्षायोपशमिकभाव है, जब केवलज्ञानरुप क्षायिकभाव से भिन्न त्रिकाल मेरा स्वरुप है, तो क्षायोपशमिकभाव में संतुष्ट होकर स्वयं को भूलना अनन्त संसार का ही कारण है। क्षायिकभाव भी कर्मोपाधिजन्य भाव है, तो क्षायोपशमिकभाव कर्मोपाधि रहित भाव कैसे हो सकता है? मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा अनुभव करने वाली निर्विकल्प पर्याय भी मेरा वास्तविक स्वरुप नहीं है, तो मैं ज्ञायक हूँ, ऐसी विकल्परुप पर्याय मेरा स्वरुप कैसे हो सकती है? आशय यह है कि शास्त्र स्वाध्याय करके कितना याद रखा? इस बात का इतना महत्व नहीं है परन्तु शास्त्र के शब्दों का भाव ग्रहण करके ज्ञायक में स्थिर होना शास्त्र स्वाध्याय का वास्तविक फल है।

चूंकि समस्त पर्याय क्रमबद्ध है, फिर भी द्रव्य से महान नहीं है। जिस प्रकार एक माँ के तीन बेटे हैं। उन तीनों का जन्म क्रमबद्ध ही हुआ है। तीनों बेटे एक के बाद एक ऐसे क्रमबद्ध ही जन्मे है फिर भी वे बेटे अपनी माँ से महान नहीं है। उसी प्रकार आत्मा की त्रिकालवर्ती अनन्तपर्याय एक के बाद एक ऐसे क्रमबद्ध ही होती हैं फिर भी वे पर्यायें आत्मा से महान नहीं हैं।

यद्यपि पर्याय द्रव्य से महान नहीं होती है क्योंकि पर्याय अनित्य है और द्रव्य नित्य है। फिर भी जब पर्याय निज आत्मद्रव्य का आश्रय लेती है, तब वह पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है, ऐसा कहा जाता है। पर्याय भी उतनी ही मूल्यवान हो जाती है जिनता द्रव्य। क्योंकि निर्विकल्प अनुभूति के काल में द्रव्य एवं पर्याय सम्बन्धी भेदरुप विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने एक सौ रुपये का वस्त्र खरीदा। उस वस्त्र का मूल्य एक सौ रुपया है। परन्तु जब वह व्यक्ति उस वस्त्र को पहिनता है, तब उस वस्त्र का मूल्य उतना ही हो जाता है, जितना शरीर का मूल्य। वहाँ रास्ते में कोई व्यक्ति उसे कहे कि मैं तुम्हें एक हजार रुपये देता हूँ, यह वस्त्र उतारकर मुझे दे दो, तो वह नहीं देता। यहाँ शरीर को द्रव्य एवं वस्त्र को पर्याय की उपमा दी गई है। उसी प्रकार जो पर्याय आत्मद्रव्य का आश्रय लेती है, वह पर्याय भी द्रव्य की अनुभूतिरुप

परिणमित होती है, अतः उस पर्याय को भी किसी अपेक्षा से द्रव्य ही कहा जाता है।

पर्याय एक समय की होती है और त्रिकाली होता है। त्रिकाली द्रव्य एक समय की पर्याय में कैसे अनुभव में आ सकता है? अनन्त काल में जिसका अस्तित्व है ऐसा विराट द्रव्य एक समय की पर्याय में अनुभव में आ सकता है क्योंकि एक समय की समय की पर्याय में द्रव्य का जो त्रिकाल एक स्वरुप वह अनुभव में आता है। **एक पर्याय में एक द्रव्य स्वभाव ही अनुभव में आता है।** उस समय पर्याय स्वयं निर्विकल्प द्रव्य स्वभाव की अनुभूति के फल में स्वयं निर्विकल्प होती है। इसीप्रकार अगले समय की पर्याय का विषय निर्विकल्प द्रव्य स्वभाव ही होता है। द्रव्य स्वभाव एक ही होने से द्रव्य को अक्रम स्वभावी और पर्याय निरंतर परिणमित होने से पर्याय को क्रमबद्ध कहा जाता है।

पर्याय के क्रमबद्ध होने की सुनिश्चितता श्रद्धान में स्थापित होने के बाद पर्याय को जानने-देखने की उत्कंठा एवं आकुलता समाप्त हो जाती है।

जिस प्रकार आज से कुछ साल पहले क्रिकेट का मैच देखने के लिए लोग पागल होते थे, परन्तु जब से क्रिकेट में मैच-फिक्सींग का मुद्दा बाहर आया कि लोगों को क्रिकेट मैच देखने की रुचि ही नहीं रही और लोग अपने-अपने कार्य में व्यस्त होने लगे। यद्यपि लोग कहते हैं कि हम मैच देखने जाते हैं, परन्तु वे सिर्फ मैच देखने के लिए ही नहीं जाते बल्कि राग-द्वेष करने जाते हैं। देखने में दोष नहीं है क्योंकि जानना-देखना तो आत्मा का स्वभाव है।

उसी प्रकार जब जीव को श्रद्धान होता है कि जगत की समस्त पर्यायें क्रमबद्ध है, सुनिश्चित है, उन पर्यायों में परिवर्तन करना असम्भव ही है, तब जीव को जगत का परिणमन देखने की रुचि छूट जाती है और आत्मा निजस्वभाव में स्थित होता है। क्योंकि पर्याय और द्रव्य के अतिरिक्त इस जगत में कुछ भी नहीं है। अतः जैसे ही जीव की द्रष्टि पर्याय से हटती है कि उसी समय द्रव्य पर द्रष्टि प्रकट होती है। पर्यायद्रष्टि का व्यय एवं द्रव्यद्रष्टि का उत्पाद एक ही समय में होता है।

निर्विकल्प आत्मानुभूति में व्यस्त एवं अतीन्द्रिय सुख के उपभोग में मस्त ज्ञानियों को जगत के परिणमन के कारण आकूलता नहीं होती है। केवलज्ञान प्रकट होने के बाद सारा जगत ज्ञान में सहज ही जानने में आता है। जानना दोष नहीं है बल्कि राग-द्वेष दोष है। भगवान निर्दोष है क्योंकि भगवान वीतरागी है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाली केवलज्ञान की यात्रा और अनन्त काल तक चलनेवाली जानने-जानने वाली ज्ञान की यात्रा के काल में जो कभी यात्रा नहीं करता ऐसा ज्ञायक ही मैं हूँ।

''क्रमबद्ध पुरुषार्थ'' नामक इस कृति का ध्येय यही है कि द्रव्यद्रष्टि एवं द्रव्यद्रष्टि का फल दोनों ही पर्याय है, उन पर्यायों के कारण मेरा अस्तित्व नहीं है।

मैं त्रिकाली ध्रुव
भगवान आत्म द्रव्य ही हूँ।
मैं तो ज्ञायक ही हूँ।

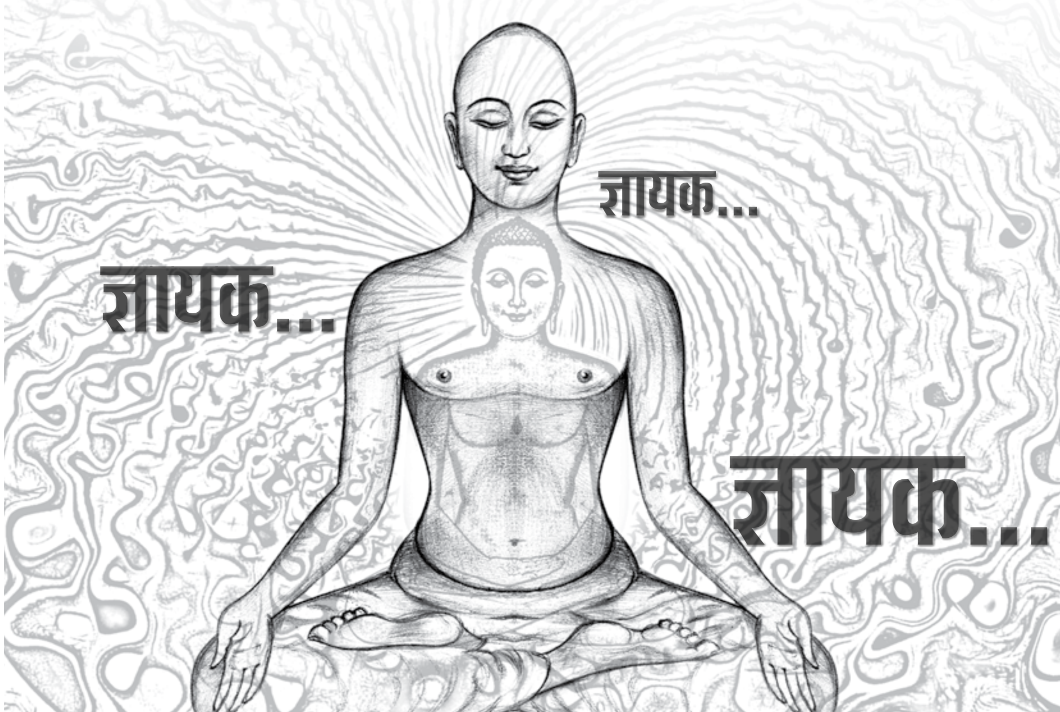

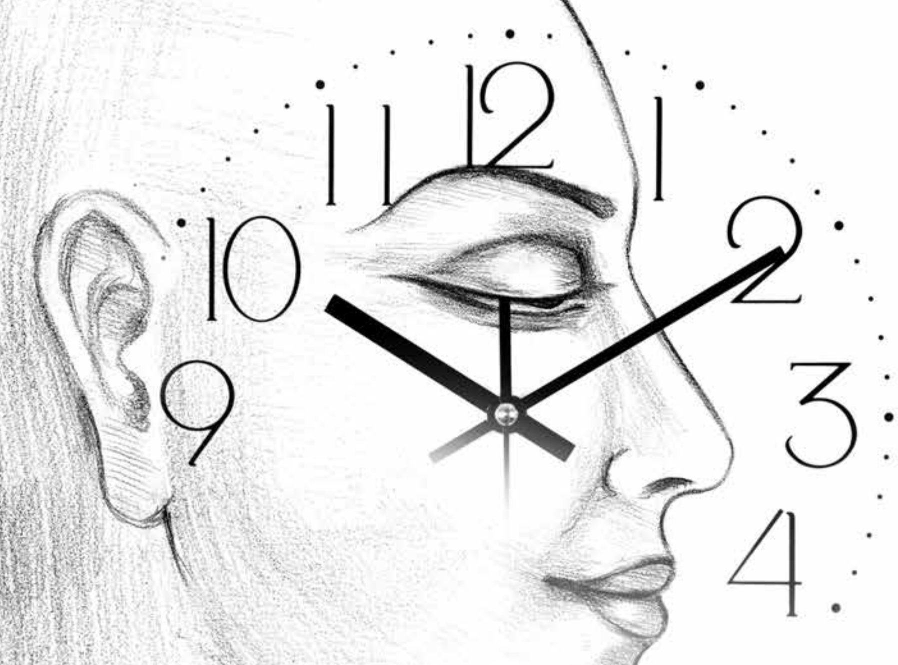

मुखपृष्ठ परिचय

मुखपृष्ठ पर चित्रित घडी में एक से बारह तक, पुनः एक से बारह तक, इस प्रकार बार-बार एक से बारह तक अंक दर्शाये गये है। वे क्रमबद्ध अंक प्रत्येक पर्याय की क्रमनियमितता को सूचित करते हैं।

आपने देखा होगा कि दुकान या चित्र में स्थित घडी में दस बजकर दस मिनिट (10:10) का समय बताया जाता है। उसका आकार ''V'' जैसा होता है, जो कि ''V'' for ''Victory'' का सूचक है, 10×10=100% सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। बाह्य व्यवहार तो कांटे वाली घडी के आधार पर चलता है, जबकि अंतरंग में आत्मा की पर्याय का परिणमन तो सहज ही होता है, अतः यहाँ कांटे को नहीं बताया है।

वर्तमान काल को हीन मानकर निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि काल तो छट्ठा अन्तिम द्रव्य है, अतः अन्तिम पर आरोप नहीं लगाकर पहला जीव (निज शुद्धात्मा) द्रव्य का आश्रय लेना चाहिए।

चित्र में कालचक्र के मध्य में आत्मा बिराजमान है, जो दर्शाता है कि आत्मा में से क्रमानुसार पर्यायें उत्पन्न होती है, फिर भी वे पर्यायें आत्मा से बाहर, आत्मा से भिन्न है।

आत्मा को लाल रंग में सूक्ष्म और आत्मा की क्रमबद्ध पर्यायों को काले रंग में स्थूल बताया है। आशय यह है कि पर्याय की कालिमा पर द्रष्टि केन्द्रित नहीं करके ज्ञायक स्वभाव में ही द्रष्टि केन्द्रित होने पर पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है।

पण्डित फूलचन्द शास्त्री
द्वारा लिखित
महत्वपूर्ण कृतियां

- आत्मसिद्धि अनुशीलन (गुज.)
- महावीर नो वारसदार कोण? (गुज.)
- क्षणिक नो बोध अने नित्य नो अनुभव (गुज.)
- आतंकवाद मां अनेकांतवाद (गुज.)
- मरण नुं हरण (गुज.)
- मने न मारो (गुज.)
- ज्ञान से ज्ञायक तक (हिन्दी)
- ज्ञान थी ज्ञायक सुधी (गुज.)
- पुण्यविराम (गुज., हिन्दी)
- ज्ञायकभाव प्रकाशक-समयसार टीका (गुज., अंग्रेजी)
- क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव (हिन्दी)
- मरण का हरण (हिन्दी)
- महावीर का वारिस कौन? (हिन्दी)
- आतंकवाद में अनेकांतवाद (हिन्दी)
- मुझे मत मारो (हिन्दी)
- छहढाला (षटपद विवेचन)
- गुणाधिपति आत्मा
- अंक अंकित अध्यात्म
- क्रमबद्ध पुरुषार्थ (गुज.)
- Tree of Jainism Theory (Eng.)
- Who is Lord Mahavir's Successor? (Eng.)
- Self Realization - A Deep Study (Eng.)
- End of Auspicious Karma (Eng.)
- Don't Kill Me (Eng.)
- Multiple viewpoints on terrorism
- Wisdom of the Transient and Realization of the Eternal (Eng.)
- Jangan Bunuh Saya (Indonesian)

पण्डित फूलचन्द शास्त्री वर्तमान में जैन एवं जैनेत्तर समाज में सुप्रसिद्ध तार्किक विद्वान, दार्शनिक, लेखक, प्रवचनकार एवं भाषाशास्त्री हैं। आप गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, इन्डोनेशियन, बताक, मलय, जापनीझ, चाईनीझ, मेंडेरीन, थाइ, तागालोग, फिलिपिनो आदि अनेक भाषाओं के विशेषज्ञ हैं।

आपने देश सहित अनेकबार विदेश यात्राएं करके विश्व की विविध भाषाओं में २६००० से भी अधिक प्रवचनों एवं पुस्तकों के माध्यम से वीतरागी भगवान द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार किया हैं। आपके ओडिओ-विडिओ प्रवचन एवं पुस्तकें www.fulchandshastri.com पर उपलब्ध हैं। आपके प्रवचनों एवं पुस्तकों से प्रेरित होकर लगभग ४० देशों में २००० से भी अधिक विदेशियों ने शाकाहार में परिवर्तन किया हैं।

पण्डित फूलचन्द शास्त्री का जन्म पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की जन्मभूमि उमराला (गुजरात) में शनिवार, २५ जुलाई, १९८१ के शुभदिन एक धार्मिक परिवार में हुआ था। आध्यात्मिक युगपुरुष परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अनन्य शिष्यरत्न डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, आपके विद्यागुरु हैं।

आप आध्यात्मिक साधना केन्द्र, उमराला के संस्थापक एवं फूलचन्द शास्त्री एज्युकेशनल एण्ड चैरिटेबल ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं।

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222